प्रकाशक
[illegible]
[illegible], वाराणसी

प्रथम संस्करण [illegible]
वीर नि० सं० [illegible]

मूल्य : बीस रुपये

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कॉलोनी
दुर्गाकुण्ड, वाराणसी-१

श्री वर्णी संस्थान ग्रन्थ प्रकाशनके लिये
दानदाताओं द्वारा स्वीकृत दान-सूची

१.	श्री श्रीमन्त सेठ भगवान दास, शोभालालजी द्वारा प्राप्त श्री भगवानदास शोभालाल चेरिटेबिल ट्रस्ट १००१), इन्द्रानी वहू ट्रस्ट ५०१), जगदलपुरके एक धर्मवन्धु १०५)	१६०७)
२.	सतना के कतिपय धर्मवन्धु	१००१)
३.	श्री सेठ रूपचन्द्र जी जवलपुरवाले, विदिशा	७५१)
४.	श्री पं० गुलावचन्द्र जी दर्शनाचार्य, जवलपुर	५०१)
५.	श्री स० सि० धन्यकुमारजी, कटनी	२०१)
६.	श्री सिंघई श्रीनन्दनलालजी जैन रईस, वीना	१२५)
७.	श्री नायक मुन्नालालजी, वीना	१०१)
८.	श्री पं० गोरेलाल श्यामलालजी, सा० ललितपुर	१०१)
९.	श्री डॉ० अरविन्दकुमारजी	१०१)
		४४८९)

समन्तभद्र-स्तवन

[१]

गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता।
न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती॥

—आचार्य वीरनन्दि

[२]

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः॥

—शुभचन्द्राचार्य

[३]

समन्तभद्रादिमहाकवीश्वरा कुवादिविद्याजयलब्धकीर्तयः।
सुतर्कशास्त्रामृतसारसागरा मयि प्रसीदन्तु कवित्वकांक्षिणि॥

—वर्धमानसूरि

[४]

सरस्वती-स्वैरविहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः।
जयन्ति वाग्वज्रनिपातपाटितप्रतीप-सिद्धान्तमहीध्रकोटयः॥

—महाकवि वादीभसिंह

[५]

समन्तभद्रोऽजनि भद्रमूर्तिस्ततः प्रणेता जिनशासनस्य।
यदीयवाग्वज्रकठोरपातश्चूर्णीचकार प्रतिवादिशैलान्॥

—श्रवणबेलगोल, शिलालेख नं० १०८

[६]

स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते॥

—वादिराजसूरि

[७]

समन्तभद्रः संस्तुत्यः कस्य न स्यान्मुनीश्वरः।
वाराणसीश्वरस्याग्रे निर्जिता येन विद्विषः॥

—तिरुमकूडलुनरसीपुर, शिलालेख नं० ५

वर्णी-परिचय

महान् आध्यात्मिक सन्त उदारमना पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी महाराज इस युगके सर्वप्रिय लोकोन्नायक महापुरुष हुए हैं। यद्यपि वर्णीजीका जन्म एक साधारण वैश्य कुलमें हुआ था, किन्तु उनको जैनधर्ममें कुछ ऐसी विशेषताएँ प्रतीत हुईं जिनके कारण उन्होंने दस वर्षकी अल्प आयुमें ही रात्रि-भोजनके त्यागपूर्वक जैनधर्मको विधिवत् अंगीकार कर लिया था। जैन-वाङ्मयका परिचय प्राप्त करनेके लिए उन्होंने युवावस्थामें ही माता, पत्नी आदिके प्रति ममत्व छोड़कर शास्त्रज्ञ और त्यागी विद्वानोंके साथ धर्मचर्चामें अधिकांश समय विताया तथा धर्ममाता चिरोंजावाईका असाधारण मातृत्व प्राप्त करके ज्ञानपिपासाकी शान्तिके लिए जयपुर, खुरजा, नवद्वीप आदि प्रमुख विद्याकेन्द्रोंमें पहुँचकर संस्कृत-वाङ्मयके विविध अंगोंका विशेष अध्ययन किया। और अन्तमें वाराणसी में श्री स्याद्वाद महाविद्यालयकी स्थापना कर स्वयं उसके प्रथम छात्र बने। तथा न्यायाध्यापक गुरु अम्बादासजी शास्त्रीके पास न्यायशास्त्रका विधिवत् अध्ययन किया। और समग्र जैन-समाजमें संस्कृत-साहित्य, व्याकरण, न्याय, दर्शन, धर्म आदि विविध विषयोंके सांगोपांग अध्ययन-अध्यापनके अभिप्रायसे सागर, जवलपुर, द्रोणगिरि आदि अनेक स्थानोंमें विद्याकेन्द्रोंकी स्थापना की।

आज समाजमें जो प्रतिष्ठित विद्वान् दृष्टिगोचर हो रहे हैं उन सवकी वर्णीजीके साक्षात् शिष्यों और शिष्य-परम्परामें गणना होती है। वर्णीजी ने समाज और संस्कृतिकी महती सेवा की है। उनका जीवन एक आदर्श जीवन रहा है। लघुसे महान् कैसे वना जाता है यह उनके जीवनसे सीखा जा सकता है। वर्णीजी जहाँ ज्ञानके धनी थे वहीं सत्य और स्वतंत्र विचारोंमें भी सुदृढ़ थे। सन् १९४५ में जवलपुरमें आजाद हिन्द सेनाके सैनिकोंके रक्षार्थ सम्पन्न हुई सभामें वर्णीजीने अपने ओढ़नेकी चादरको समर्पित करके कहा था कि आजाद हिन्द सेनाके सैनिकोंका वाल भी बाँका नहीं हो सकता है। और वही हुआ जो उन्होंने कहा था।

वर्णीजीका जन्म हँसेरा (झाँसी) में वि० सं० १९३१ में हुआ था और वि० सं० २०१८ में ईसरी (विहार) में वे समाधिमरणपूर्वक स्वर्गवासी हुए। उनके समग्र जीवनको अनुगम करनेके लिए उनके द्वारा लिखित 'मेरी जीवनगाथा' (दो भाग) पठनीय है तथा उनके सद्विचारोंका मनन करनेके लिए वर्णी-वाणी (चार भाग) स्वाध्याय करने योग्य है।

के श्रीमन्त सेठ भगवानदास शोभालालजी सागर, श्री सेठ रूपचन्दजी बीड़ीवाले विदिशा, श्री पं० गुलाबचन्द्रजी दर्शनाचार्य, एम० ए०, जबलपुर तथा सतना, कटनी और बीनाके अपने मित्रोंसे सम्पर्क स्थापित किया। परिणामस्वरूप इस ग्रन्थके प्रकाशनके लिए उक्त तथा दूसरे महानुभावोंसे दानस्वरूप जो द्रव्य प्राप्त हुआ उसके लिए हम उनके विशेष आभारी हैं। द्रव्य-दाताओं द्वारा प्राप्त दानकी सूची पृथक्से मुद्रित है।

हर्षकी बात है कि भगवान् महावीरकी पच्चीसवीं निर्वाण-शताब्दी वर्षमें वर्णी-शताब्दीके अवसर पर वर्णी-संस्थान द्वारा इसका प्रकाशन हुआ है। यह वर्णी-संस्थानका प्रथम प्रकाशन है। आशा है राष्ट्रभाषामें लिखित इस महत्त्वपूर्ण दार्शनिक कृतिका दर्शनके अध्येताओं द्वारा समुचित समादर होगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि अभीतक आप्तमीमांसा पर हिन्दीमें जो व्याख्याएँ लिखी गयी हैं उनमें इस व्याख्याकी कुछ महत्त्व-पूर्ण ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण यह सबके लिए लाभप्रद तथा प्रिय होगी। और अन्य दार्शनिक विद्वान् भी इसका समुचित मूल्यांकन कर जैनदर्शनकी दार्शनिक मीमांसाको अनुगम करनेमें समर्थ होंगे।

वाराणसी
२५–१–७५

फूलचन्द्र शास्त्री
उपाध्यक्ष
श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान

[illegible] में भी [illegible] है। [illegible] मीमांसा [illegible] अनेक [illegible] किया और [illegible] अनेक [illegible] किया। [illegible] जो अनुग्रह किया [illegible]।

आदरणीय मित्र [illegible] मेरे [illegible] १९५२ में [illegible] की ओर [illegible] नियुक्त करनेके [illegible] मुझे [illegible] (म० प्र०) में था अतः आपकी [illegible] सकता था। फिर भी आप मुझे भूले नहीं, और सन् १९६२ में आपने मुझे नव नालन्दा महाविहारकी [illegible] बनाया। इससे आपकी मेरे प्रति आत्मीयताका आभास मिलता है। प्रसन्नताकी बात है कि आपने मेरे अनुरोधको स्वीकार करके अस्वस्थ होते हुए भी प्रस्तुत कृति पर मूल्यांकन लिख कर मुझे अनुगृहीत किया है। आपकी यह आत्मीयता और स्नेह सदा ही अविस्मरणीय रहेंगे।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें दर्शन-विभागके प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष डॉ० रमाकान्तजी त्रिपाठीने अंग्रेजीमें Foreword (भूमिका) लिखनेका अनुग्रह किया है, तथा प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान संकायमें दर्शन-विभागाध्यक्ष पं० केदारनाथजी त्रिपाठीने संस्कृतमें 'शुभाशंसनम्' लिखनेकी कृपा की है, और संस्कृत विश्वविद्यालयके प्रोफेसर एवं पालि-विभागाध्यक्ष पं० जगन्नाथजी उपाध्यायने पुरोवाक् लिखकर अनुगृहीत किया है। इस प्रकार उच्च कोटिके पाँच विद्वानों द्वारा लिखित मूल्यांकन, प्राक्कथन आदिसे निश्चित ही यह कृति गौरवान्वित हुई है।

श्रीमान् प्रो० खुशालचन्द्रजी गोरावालाका प्रारम्भसे ही मेरे ऊपर अनुज तुल्य स्नेह रहा है। वे हम सबके आदरणीय बड़े भाई हैं। इसलिए हम लोग उनको 'भाई साहब' ही कहते हैं। आपने गत वर्ष कई बार कहा कि 'आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका' को प्रकाशित करनेके लिए क्यों नहीं कहते। यदि वर्णी ग्रन्थमालासे इसका प्रकाशन सम्भव न हो तो इसके लिए कोई दूसरी व्यवस्था की जा सकती है। आपकी उत्कट

क्षेत्र चयन करनेमें भी आपकी पवित्र प्रेरणा ही मूलमें रही है। आप्त-मीमांसाके कई कठिन स्थलोंके विषयमें मैंने आपसे अनेक बार घण्टों तक परामर्श किया और आपने कई दिन तक अपना अमूल्य समय देकर अनेक उपयोगी परामर्श दिये। प्राक्कथन लिखकर तो आपने मेरे ऊपर जो अनुग्रह किया है वह चिरस्मरणीय रहेगा।

आदरणीय भिक्षु जगदीशजी काश्यप काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें मेरे केवल अध्यापक ही नहीं रहे, किन्तु प्रारम्भसे ही विशेष स्नेहके कारण परम हितैषी भी रहे हैं। यही कारण है कि जब आपने सन् १९५१ में विहार शासनके सहयोगसे नालन्दामें पालि-संस्थानकी स्थापना की और आप उसके प्रथम निदेशक हुए तो उस समय उस संस्थामें मुझे नियुक्त करनेके विषयमें आपने मुझे लिखा था। यतः मैं उस समय धार (म० प्र०) में था अतः अपनी विवशताके कारण नालन्दा नहीं पहुँच सका था। फिर भी आप मुझे भूले नहीं, और सन् १९६१ में आपने मुझे नव नालन्दा महाविहारकी महापरिषद्का सदस्य बनाया। इससे आपकी मेरे प्रति आत्मीयताका आभास मिलता है। प्रसन्नताकी बात है कि आपने मेरे अनुरोधको स्वीकार करके अस्वस्थ होते हुए भी प्रस्तुत कृति पर मूल्यांकन लिख कर मुझे अनुगृहीत किया है। आपकी यह आत्मीयता और स्नेह सदा ही अविस्मरणीय रहेंगे।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें दर्शन-विभागके प्रोफेसर एवं विभागा-ध्यक्ष डॉ० रमाकान्तजी त्रिपाठीने अंग्रेजीमें Foreword (भूमिका) लिखनेका अनुग्रह किया है, तथा प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान संकायमें दर्शन-विभागाध्यक्ष पं० केदारनाथजी त्रिपाठीने संस्कृतमें 'शुभाशंसनम्' लिखनेकी कृपा की है, और संस्कृत विश्वविद्यालयके प्रोफेसर एवं पालि-विभागाध्यक्ष पं० जगन्नाथजी उपाध्यायने पुरोवाक् लिखकर अनुगृहीत किया है। इस प्रकार उच्च कोटिके पाँच विद्वानों द्वारा लिखित मूल्यांकन, प्राक्कथन आदिसे निश्चित ही यह कृति गौरवान्वित हुई है।

श्रीमान् प्रो० खुशालचन्द्रजी गोरावालाका प्रारम्भसे ही मेरे ऊपर अनुज तुल्य स्नेह रहा है। वे हम सबके आदरणीय बड़े भाई हैं। इसलिए हम लोग उनको 'भाई साहब' ही कहते हैं। आपने गत वर्ष कई बार कहा कि 'आप्तमीमांसा-तत्त्वदीपिका' को प्रकाशित करनेके लिए क्यों नहीं कहते। यदि वर्णी ग्रन्थमालासे इसका प्रकाशन सम्भव न हो तो इसके लिए कोई दूसरी व्यवस्था की जा सकती है। आपकी उत्कट

मूल्यांकन

भगवान् बुद्धने अपने अनुयायियोंसे कहा था—

> तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितः ।
> परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात् ॥

अर्थात् हे भिक्षुओ ! ये बुद्धके वचन हैं इस कारण इन्हें कभी ग्रहण न करो, किन्तु स्वर्णकी तरह इनकी परीक्षा करनेके बाद ही इन्हें स्वीकार करो। उन्होंने यह भी कहा था कि बोधिसत्त्वको युक्तिशरण होना चाहिए, पुद्गलशरण नहीं। अर्थात् युक्तिकी सहायतासे तथ्यका निर्णय करना चाहिए, किसी पुरुष विशेषका आश्रय लेकर नहीं। इसी प्रकार आचार्य समन्तभद्रने भी देवागमादि विभूतियोंके कारण तथा तीर्थंकरत्वादि विशेषताओंके कारण अपने आप्तको स्तुत्य स्वीकार नहीं किया। किन्तु उनके वीतरागता, सर्वज्ञता आदि गुणोंकी परीक्षा करनेके बाद ही उन्हें आप्त (यथार्थ वक्ता) के रूपमें स्वीकार किया है। यही आप्तमीमांसाका सार है।

प्रिय शिष्य श्री उदयचन्द्र जैन द्वारा लिखित 'आप्तमीमांसा'की 'तत्त्वदीपिका' नामक व्याख्याका अवलोकन कर चित्तमें अत्यन्त आनन्दका अनुभव हुआ। ये जैनदर्शन तथा बौद्धदर्शनके प्रौढ़ विद्वान् तो हैं ही; साथ ही अन्य भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शनके भी विद्वान् हैं। आचार्य समन्तभद्रकी आप्तमीमांसामें केवल जैनदर्शनके ही सिद्धान्तोंका विवेचन नहीं है, किन्तु इसमें पूर्वपक्षके रूपमें बौद्ध, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त आदिके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करके जैनदर्शनके प्रमुख सिद्धान्त स्याद्वादन्यायके अनुसार उनका समन्वय किया गया है। श्री उदयचन्द्रने तत्त्वदीपिकामें उन सब विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला है जो आप्तमीमांसामें केवल सूत्ररूपमें उपलब्ध होते हैं, किन्तु उसकी टीका अष्टशती और अष्टसहस्रीमें जिनका विस्तारसे प्रतिपादन किया गया है। इन्होंने इस ग्रन्थमें सरल भाषामें आप्तमीमांसाके जिन निगूढ़ दार्शनिक तत्त्वोंकी विशद व्याख्या की है उससे इनकी सर्वदर्शनीय गहन अध्ययन तथा अभ्यासशीलता परिलक्षित होती है।

प्राक्कथन

वक्ताकी प्रामाणिकतासे ही वचनोंकी प्रामाणिता मानी जाती है। इसीसे आचार्य माणिक्यनन्दिने अपने 'परीक्षामुख' नामक सूत्र-ग्रन्थमें आप्तके वचन आदिसे होनेवाले ज्ञानको आगम प्रमाण कहा है और परीक्षामुखके व्याख्याता आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने व्याख्या-ग्रन्थ 'प्रमेय-कमलमार्तण्ड' में 'जो जिस विषयमें अवंचक है वह उस विषयमें आप्त है', ऐसा कहा है। अतः किसी धर्मपर श्रद्धा करनेसे पूर्व विचारशील व्यक्ति उसके प्रवक्ताकी प्रामाणिकताकी परीक्षा करे तो यह उचित ही है।

जैनधर्म न तो किसी अनादि शाश्वत ऐसे ईश्वरकी ही सत्ता स्वीकार करता है, जो इस विश्वको रचता है और प्राणियोंको उनके कर्मानुसार स्वर्ग या नरक भेजता है, और न तथोक्त अपौरुषेय वेदको ही प्रमाण मानता है। अतः जैनधर्म इन दोनोंकी उपज न होकर ऐसे महामानवकी देन है, जो निर्दोष शुद्ध परमात्मपद प्राप्त कर चुका है, किन्तु अभी मुक्त नहीं हुआ है। उसे ही अर्हन्, तीर्थंकर आदि कहते हैं। उसका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥

अर्थात् जो मोक्षमार्गका नेता है, कर्मरूपी पर्वतोंका भेदन करनेवाला है और विश्वके तत्त्वोंका ज्ञाता है उसे उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए मैं नमस्कार करता हूँ।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि संसारमें परिभ्रमण करनेवाला जीव जब मोक्षमार्गमें लगकर अपने प्रयत्नोंसे कर्मोंकी शृंखलाको तोड़ देता है तब वह वीतराग और विश्वतत्त्वोंका ज्ञाता (सर्वज्ञ-सर्वदर्शी) होकर मोक्षके मार्गका उपदेश करता है। वह मोक्षमार्ग ही धर्म कहा जाता है।

असत्य प्रतिपादनका कारण अज्ञान तो है ही, किन्तु राग-द्वेषके वशीभूत होकर ज्ञानी भी असत्य बोलता है। जो अज्ञानवश असत्य बोलता है वह तो क्षम्य हो सकता है, परन्तु जो राग-द्वेषवश असत्य बोलता है वह अक्षम्य है। अतः पूर्ण ज्ञानके साथ पूर्ण वीतराग भी

आप्तमीमांसा केवल आप्तकी ही मीमांसा नहीं है, किन्तु आप्तके व्याजसे समस्त दर्शनोंकी मीमांसा है। साथ ही जैनदर्शनके प्राण स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, सप्तभंगीवाद और नयवादको समझनेकी तो कुञ्जी है। इस एक ग्रन्थके अवगाहनसे समस्त भारतीय दर्शनोंका सम्यक् रूप दृष्टि पथमें आ जाता है। आशा है इस व्याख्यासे इसके पठन-पाठनको और भी अधिक बल मिलेगा तथा विद्वद्गण इस कृतिका मूल्यांकन सम्यक्-रीतिसे कर सकेंगे।

वाराणसी
३१-१२-७४

कैलाशचन्द्र शास्त्री
अधिष्ठाता
श्री स्याद्वाद महाविद्यालय

इत्यनेन प्रतिपादनकौशलं करणपाटवादिकमुक्तम्। वीतरागत्वमपि प्रतिपाद्य एवार्थे इष्यतेऽन्यथा सर्वथावीतरागपुरुषानुपलंभात् लोके दृश्यमान आप्तोक्तिनिबन्धो व्यवहार एव लुप्येत" इति।

तत्रैव "स्वर्गापूर्वादयोऽप्यतीन्द्रिया यद्यपि नास्माकं प्रत्यक्षास्तथापि कस्यचित् सर्वज्ञस्य प्रत्यक्षाः सन्त्येव" इति सामान्यविशेषवत्त्वात्, आश्रितत्वात्, परार्थत्वात्, वस्तुत्वात्, आगमविषयत्वात्, अनित्यत्वात्, इति हेतुभिः संसाध्य आप्तोपदेशतया वेदात्मकशब्दस्य प्रमाणत्वं व्यवस्थापयामासुः न्यायवार्तिककाराः।

आप्तस्वरूपप्रतिपादनप्रसङ्गेऽकलंकदेवोऽप्याह अष्टशत्याः षष्ठपरिच्छेदे—'आप्तिः साक्षात्करणादिगुणः' इति। एवंविधाप्त्या सह वर्तमान एवाप्त इति तदभिप्रायः। सर्वज्ञातिरिक्तजनसाधारणमपि आप्तत्वमाह—'यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तस्ततोऽपरोऽनाप्त' इति। (अष्टशती प० ६ का० ७८) अष्टसहस्रीकारा अपि एतदेवाप्तस्वरूपं विस्तरश आहुः। इत्थञ्च जैनदार्शनिकानामाप्तस्वरूपनिर्वचनं नैयायिकवदेवास्तीति प्रतीयते। भेदस्तु इयदंशे विद्यते यत् नैयायिकाः सर्वथाऽऽप्तं सर्वज्ञमलौकिकमीश्वरमभ्युपगच्छन्ति। आर्हताश्च लौकिकं पुरुषमेव कमपि क्षीणकर्मराशिं सर्वथा वीतरागं सर्वज्ञं मन्यन्त इति।

अस्तु, प्रस्तुतग्रन्थ आप्तमीमांसाभिधः श्रीमदाचार्यसमन्तभद्रप्रणीत आप्तस्वरूपनिर्वचनप्रसङ्गेन जैनदर्शनस्य मूलसिद्धान्तान् स्याद्वादानेकान्तवादसप्तभंगीवादनयवादप्रभृतीन् आञ्जस्येन प्रतिपादयति। तदुपरि अकलंकदेवस्य अष्टशती, तदुपरि च श्रीमद्विद्यानन्दस्वामिप्रणीता अष्टसहस्री च महता समारोहेण तान् सिद्धान्तान् समर्थयत इति जैनसम्प्रदाये मूर्धन्यस्थानमासादयति आप्तमीमांसेति नात्र संदेहः।

अत्रत्यः प्रारम्भिकः "देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः। मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान्।" इति श्लोको नूनम्। "न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः। ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥" इति मनुस्मृतिश्लोक (अ० २ श्लो० १५४) प्रसङ्गमनुहरतीति प्रतीमः। तत्रापि 'महान्' इति पदेन आप्त एव वर्णितो यथाऽत्रत्ये प्रथम श्लोके। तत्र 'अनूचानः' इति पदस्य साङ्गवेदाधीती इत्यर्थः। अर्थात् वैदिकसम्प्रदाये कृतसाङ्गवेदाध्ययन एव धर्मादिव्यवहारे महान् (आप्तः) विवक्षित इति। आप्तमीमांसायाश्च चतुर्थपञ्चमषष्ठश्लोकैः युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेन सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वेन च सर्वज्ञत्व-

तात्त्विकताको संकेतित करनेकी एक सक्षम दार्शनिक प्रक्रिया है। आचार्य समन्तभद्रका आप्तमीमांसा-ग्रन्थ अनेकान्तवादकी उस विशेष भूमिकाको स्पष्ट करनेके लिए अपने प्रतिपाद्य अनेकान्तभूत अस्तित्वका अनिवार्य सम्बन्ध सर्वज्ञतासे जोड़ता है। इसी प्रस्थान-भूमिसे चलकर समन्तभद्रने एक ओर अनेकान्तके अन्तरंग आध्यात्मिक उष्कर्षको प्रकट किया है और दूसरी ओर अस्तित्वकी वास्तविक अवधारणामें अन्य दर्शनोंकी अक्षमता-को प्रकट किया है। आचार्य समन्तभद्रके इस गूढाभिप्रायको समझना बहुत ही कठिन होता यदि अकलंकदेव और विद्यानन्द स्वामी जैसे अनेकानेक दर्शनोंके पारदृश्वा आचार्योंने अपने प्रौढ़ ग्रन्थ अष्टशती और अष्टसहस्री द्वारा उसका पुङ्खानुपुङ्ख आलोचन न किया होता। आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें आठवीं-नवमीं शताब्दी तकके समस्त प्रमुख भारतीय दार्शनिकोंके वादोंका अत्यन्त प्रामाणिक उत्थापन किया है और अपनी दृष्टिसे उनकी प्रौढ़ आलोचना की है। इस प्रकार यह ग्रन्थ प्रामाणिक सूचनाकी दृष्टिसे दर्शनोंका आकर-ग्रन्थ है।

आप्तमीमांसा, अष्टशती और अष्टसहस्रीका सम्यक् आलोडन कर श्री उदयचन्द्र जैनने संक्षेपमें हिन्दी माध्यमसे आचार्य समन्तभद्र, अकलंक और विद्यानन्दके दर्शन-वैभवका जो प्रस्तुतीकरण किया है, वह उनके दर्शनसम्बन्धी गम्भीर ज्ञानका महत्वपूर्ण निदर्शन है। दार्शनिक जटिलता-को सरल और सुबोध बनाकर वास्तवमें उन्होंने इस विषयमें प्रवेशके लिए राजमार्ग खोल दिया है।

वाराणसी
२०-१-'७१

जगन्नाथ उपाध्याय
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, पालिविभाग
संस्कृत विश्वविद्यालय

स्तुतिविद्या (जिनशतक) और रत्नकरण्डश्रावकाचार (समीचीनधर्मशास्त्र) आप्तमीमांसा दश परिच्छेदोंमें विभक्त है और ये परिच्छेद विषय-विभाजन की दृष्टिसे बनाये गये हैं। अकलंकदेवने भी इन परिच्छेदोंका समर्थन किया है[1]। यह कृति पद्यात्मक है और दार्शनिक शैलीमें रची गयी है। उस समय दार्शनिक रचनाएँ प्रायः पद्यात्मक और इष्टदेव की स्तुतिरूपमें रची जाती थीं। नागार्जुन, वसुबन्धु आदि दार्शनिकोंकी रचनाएँ इसीप्रकारकी उपलब्ध होती हैं। अतः आचार्य समन्तभद्रने स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन और आप्तमीमांसा ये तीन स्तोत्र पद्यात्मक एवं दार्शनिक शैलीमें बनाये हैं।

आप्तमीमांसाकी व्याख्याएँ

वर्तमानमें आप्तमीमांसा पर संस्कृतमें तीन व्याख्याएँ उपलब्ध हैं—१ अष्टशती (आप्तमीमांसाभाष्य) २ अष्टसहस्री (आप्तमीमांसालंकार, देवागमालङ्कार) और ३ आप्तमीमांसावृत्ति (देवागमवृत्ति)

१. **अष्टशती**—इसके रचयिता आचार्य अकलंक हैं। यह अत्यन्त क्लिष्ट और गूढ़ रचना है। प्रत्येक परिच्छेदके अन्तमें समाप्तिपुष्पिका-वाक्यमें इसका 'आप्तमीमांसाभाष्य'के नामसे उल्लेख हुआ है[2]। आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके तृतीय परिच्छेदके प्रारम्भमें ग्रन्थकी प्रशंसामें जो पद्य दिया है, उसमें उन्होंने इसका नाम अष्टशती निर्दिष्ट किया है[3]। संभवतः आठ सौ श्लोक प्रमाण रचना होनेसे इसे उन्होंने अष्टशती कहा है। इसका प्रत्येक स्थल अत्यन्त क्लिष्ट और गूढ़ है। इसके तात्पर्यको अष्टसहस्रीके द्वारा ही जाना जासकता है।

२. **अष्टसहस्री**[4]—यह आचार्य विद्यानन्दकी महत्त्वपूर्ण रचना है।

---

१. स्वोक्त परिच्छेदे शास्त्रे। अष्टश० अष्टस० पृ० २९४

२. इत्याप्तमीमांसाभाष्ये प्रथमः परिच्छेदः।

३. अष्टशती प्रथितार्था साष्टसहस्री कृतापि संक्षेपात्।
विलसदकलङ्कधिषणैः प्रपञ्चनिचितावबोद्धव्या॥

४. सबसे पहले इसका प्रकाशन सन् १९१५में सेठ नाथारंगजी गांधीके पुत्रों द्वारा निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे हुआ था। प्रसन्नताकी बात है कि पूज्य आर्यिका १०५ ज्ञानमती माताजी कृत हिन्दी अनुवादके साथ अब इसका प्रकाशन श्री जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा कई भागोंमें हो रहा है। और इसके प्रथम भागका विमोचन अक्टूबर १९७४ में हो चुका है।

मंगलके पूर्व 'केचिदिदं मंगलवचनमनुमन्यन्ते' शब्दोंके साथ आप्तमीमांसाके किसी व्याख्याकारका 'जयति जगति' आदि समाप्ति मंगल पद दिया है। उससे प्रतीत होता है कि अकलंकसे पूर्व भी आप्तमीमांसापर किसी आचार्यकी व्याख्या रही है। लघु समन्तभद्रने अपने टिप्पणमें वादीभसिंह द्वारा आप्तमीमांसाके उपलालन करनेका उल्लेख किया है[1]। इससे प्रतीत होता है कि वादीभसिंहने आप्तमीमांसापर कोई व्याख्या लिखी थी, किन्तु वह वर्तमानमें अनुपलब्ध है।

आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके अन्तमें एक श्लोक लिखा है,[2] जिसमें अपनी अष्टसहस्रीको कुमारसेनकी उक्तियोंसे वर्धमान बतलाया है। इसका तात्पर्य यही है कि कुमारसेन नामक आचार्यने आप्तमीमांसा-पर कुछ लिखा था, और विद्यानन्दने उससे लाभ उठाया था। उसी श्लोकमें अष्टसहस्रीको कष्टसहस्री भी कहा है। इससे ज्ञात होता है कि अष्टसहस्रीकी रचनामें हजारों कष्टोंको सहन करना पड़ा था। इसका अध्ययन भी कष्टकारी है। अर्थात् कोई जिज्ञासु हजारों कष्ट उठाकर ही अष्टसहस्रीका अध्ययन कर सकता है।

आप्तमीमांसाकी हिन्दी व्याख्याएँ

इसके पहले आप्तमीमांसाकी तीन हिन्दी व्याख्याएँ लिखी गयी हैं—

१. **हिन्दी वचनिका**—विक्रमकी उन्नीसवीं शताब्दीके प्रसिद्ध विद्वान् जयपुर निवासी पं० जयचन्द्र जी छावड़ाने विक्रम सम्वत् १८८६ में आप्तमीमांसाकी हिन्दी वचनिका लिखी थी। इसका प्रकाशन ५० वर्ष पूर्व अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला बम्बईसे हुआ था। इसकी भाषा ढूंढारी (राज-स्थानी हिन्दी) है। और अब यह प्रायः अप्राप्य है।

२. **हिन्दी भाष्य**—विक्रमकी बीसवीं शताब्दीके प्रसिद्ध साहित्य-सेवी तथा समन्तभद्र-भारतीके मर्मज्ञ पं० जुगलकिशोर जी मुख्तारने देवागम अपर नाम आप्तमीमांसाका हिन्दी भाष्य (मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद) लिखा है। इसका प्रकाशन वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टसे सन् १९६७ में हुआ है।

३. **हिन्दी विवेचन**—श्री पं० मूलचन्द्र जी शास्त्रीने आप्तमीमांसा-

---

१. श्रीमता वादीभसिंहेनोपलालितामाप्तमीमांसाम्। अष्टस० टिप्पण पृ० १

२. कष्टसहस्री सिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात्।
शश्वदभीष्टसहस्री कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्था ॥

होगा। क्योंकि यह व्याख्या अष्टशती और अष्टसहस्रीके आलोकमें लिखी गयी है।

आप्तमीमांसाका मूलाधार

यद्यपि आचार्य समन्तभद्रने ऐसा कोई संकेत नहीं दिया है कि आप्तमीमांसाकी रचनाका आधार 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मंगल श्लोक है, किन्तु आचार्य विद्यानन्दके अनेक उल्लेखोंसे यह सिद्ध होता है कि आचार्य समन्तभद्रने उसी आप्तकी मीमांसा की है, जिसकी उक्त मंगल श्लोकमें वन्दना की गयी है। अकलंकदेवने भी इस विषयमें कुछ नहीं लिखा है। हो सकता है कि आचार्य विद्यानन्दको वैसा लिखनेके लिए कोई आधार प्राप्त रहा हो अथवा उनका स्वयंका कोई अनुमान हो। फिर भी आचार्य विद्यानन्दके निम्नलिखित उल्लेख ध्यान देने योग्य हैं।

१. "शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसित कृतिः"

अष्टस० पृ० १

२. "शास्त्रारंभेऽभिष्टुतस्याप्तस्य……… भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परीक्षेयं विहिता।" अष्टस० पृ० २९४

३. "श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य, प्रोत्थानारंभकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्। स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्, विद्यानन्दैः स्वशक्त्या………"

—आप्तपरीक्षा का० १२३ पृ० २६२

४. "इति संक्षेपतः शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुङ्गवैर्विधीयमानस्य…………प्रपञ्चतस्तदन्वयस्याक्षेपसमाधानलक्षणस्य श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिर्देवागमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात्।"

—आप्तपरीक्षा का० १२० पृ० २६१

'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादि मंगल श्लोक तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण है या नहीं इस विषयमें विद्वानोंमें मतभेद है। कुछ विद्वान् इसे तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण मानते हैं, तो दूसरे विद्वान् कहते हैं कि यह सर्वार्थसिद्धिका मंगलाचरण है। किन्तु डा० दरबारीलालजी कोठियाने अनेक प्रमाणोंके आधारसे यह सिद्ध कर दिया है[1] कि उक्त मंगल श्लोक

१. 'तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण' शीर्षक दो लेख, अनेकान्त वर्ष ५ किरण ६, ७, १०, ११।

उनमें परम प्रकर्षको प्राप्त थे। उस समय जितने वादी (शास्त्रार्थ करनेमें प्रवीण) थे, गमक (दूसरे विद्वानोंकी रचानाओंको स्वयं समझने और दूसरोंको समझानेमें समर्थ) थे, वाग्मी (अपने वचनचातुर्यसे दूसरोंको वशमें करनेवाले) थे और कवि (काव्य या साहित्यकी रचना करने वाले) थे, आचार्य समन्तभद्र उन सबमें सिर पर चूड़ामणिके समान सर्वश्रेष्ठ थे। इसीलिए जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें कहा है—

कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥

समन्तभद्र सबसे बड़े वादी थे। उनके वादका क्षेत्र संकुचित नहीं था। उन्होंने प्रायः सम्पूर्ण भारतवर्षका भ्रमण किया था और सर्वत्र ही उन्हें वादमें विजय प्राप्त हुई थी। वे कभी इस बातकी प्रतीक्षामें नहीं रहते थे कि कोई दूसरा उन्हें वादके लिए निमंत्रण दे। इसके विपरीत उन्हें जहाँ कहीं किसी महावादी अथवा वादशालाका पता चलता था तो वे वहाँ पहुँचकर और वादका डंका बजाकर विद्वानोंको वादके लिए स्वतः आमंत्रित करते थे। वहाँ स्याद्वादन्यायकी तुलामें तुले हुए उनके युक्तिपूर्ण भाषणको सुनकर श्रोता मुग्ध हो जाते थे और किसीको भी उनका कुछ भी विरोध करते नहीं बनता था। इस प्रकार आचार्य समन्तभद्र भारतके पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तरके प्रायः सभी प्रमुख स्थानोंमें एक अप्रतिद्वन्दी सिंहके समान निर्भयताके साथ वादके लिए घूमे थे। एक बार वे घूमते हुए करहाटक नगरमें पहुँचे थे और उन्होंने वहाँके राजाके समक्ष अपना वादविषयक जो परिचय दिया था वह श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० ५४ में निम्न प्रकारसे उपलब्ध है—

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटम्,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ॥

वे करहाटक पहुँचनेसे पहले पाटलिपुत्र (पटना) मालव, सिन्धु, ठक्क (पंजाब) कांचीपुर (कांजीवरम्) और वैदिश (विदिशा)में पहुँच चुके थे। समन्तभद्रके देशाटनके सम्बन्धमें एम० एस० रामस्वामी आयंगर अपनी (Studies in South Indian Jainism) नामक पुस्तकमें लिखते हैं—

"यह स्पष्ट है कि समन्तभद्र एक बहुत बड़े धर्म प्रचारक थे,

समन्तभद्रकी कृतियाँ

१. आप्तमीमांसा, २. युक्त्यनुशासन, ३. स्वयम्भूस्तोत्र, ४. स्तुतिविद्या, और ५ रत्नकरण्डश्रावकाचार

ये पाँच ग्रन्थ उपलब्ध हैं और प्रकाशित हो चुके हैं। इन उपलब्ध ग्रन्थोंके अतिरिक्त इनके द्वारा रचित निम्नलिखित ग्रन्थोंके उल्लेख और मिलते हैं—

१ जीवसिद्धि, २ गन्धहस्तिमहाभाष्य,

इनमेंसे जिनसेनाचार्यने हरिवंशपुराणमें जीवसिद्धिका उल्लेख किया है[1]। चौदहवीं शताब्दीके विद्वान् हस्तिमल्लने अपने विक्रान्तकौरवकी प्रशस्तिमें गन्धहस्तिमहाभाष्यका निर्देश किया है[2]।

यह पहले बतलाया जा चुका है कि समन्तभद्र परीक्षाप्रधान आचार्य थे। साथ ही श्रद्धा और गुणज्ञता नामक गुण भी उनमें विद्यमान थे। उन्हें आद्य स्तुतिकार होनेका गौरव प्राप्त है। उनके उपलब्ध ग्रन्थोंमें रत्नकरण्डश्रावकाचारको छोड़कर शेष चारों ग्रन्थ स्तुतिपरक ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थोंमें अपने इष्टदेवकी स्तुतिके व्याज (बहाना)से उन्होंने एकान्तवादोंकी आलोचना करके अनेकान्तवादकी स्थापना की है। वे 'स्वामी' पदसे अभिभूषित थे। स्वामी उनका उपनाम हो गया था। इसी कारण विद्यानन्द और वादिराजसूरि जैसे कितने ही आचार्यों तथा पं० आशाधरजी जैसे विद्वानोंने अपने ग्रन्थोंमें अनेक स्थानोंपर केवल स्वामी पदके प्रयोग द्वारा ही उनका नामोल्लेख किया है। उन्होंने अपने जन्मसे इस भारत भूमिको पवित्र किया था। इसीलिए शुभचन्द्राचार्यने पाण्डवपुराणमें उनके लिए जो 'भारतभूषण' विशेषणका प्रयोग किया है[3] वह सर्वथा उचित है।

जैनदर्शनके इतिहासमें आचार्य समन्तभद्रका स्थान

अनेकान्त और स्याद्वाद जैनदर्शनके प्राण हैं। और आचार्य समन्तभद्र स्याद्वादविद्याके प्राणप्रतिष्ठापक हैं। यह कहा जा सकता है कि आचार्य समन्तभद्रके पहले जिन तत्त्वोंकी प्रतिष्ठा आगमके आधार

---

१. जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम् ।

२. तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगन्धहस्तिप्रवर्तकः ।
स्वामी समन्तभद्रोऽभूद् देवागमनिदेशकः ॥

३. समन्तभद्रो भद्रार्थो भातु भारतभूषणः ।

जन उनके चरणोंकी वन्दना करते थे जिससे उनके मुकुटमणिकी किरणोंके द्वारा अकलंकके चरणोंके नखोंकी किरणें नाना रूप धारण कर लेती थीं। स्याद्वादरत्नाकरके रचयिता श्वेताम्बराचार्य देवसूरिने उन्हें मतान्तरोंके दोषोंका उद्भावक बतलाया है[1]।

महाकवि वादिराज सूरि लिखते हैं[2] कि वे तर्कभूवल्लभ अकलंक जयवन्त हों, जिन्होंने जगतकी वस्तुओंके अपहर्ता शून्यवादी बौद्ध दस्युओंको दण्डित किया। शुभचन्द्राचार्यने तो मुग्ध होकर उनकी पुण्य सरस्वतीको अनेकान्त गगनकी चन्द्रलेखा लिखा है[3]। इसी प्रकार ब्रह्मचारी अजितने अकलंकको बौद्धबुद्धिवैधव्यदीक्षागुरु बतलाया है[4]। अर्थात् अकलंक द्वारा बौद्धोंकी बुद्धि विधवा हो गयी या उनकी बुद्धिको वैधव्यकी दीक्षा दी गयी। पद्मप्रभमलधारिदेवने नियमसारकी तात्पर्यवृत्तिके प्रारंभमें उन्हें 'तर्काब्जार्क' अर्थात् तर्करूपी कमलोंके विकासके लिए सूर्य बतलाया है।

इसीप्रकार अनेक शिलालेखोंमें वादिसिंह, स्याद्वादामोघजिह्व, समयदीपक, उद्बोधितभव्यकमल, ताराविजेता, जिनमतकुवलयशशांक, बौद्धवादिविजेता शास्त्रविदग्रेसर, मिथ्यान्धकारभेदक, महर्धिक और देवागमके भाष्यकारके रूपमें अकलंकका स्मरण किया गया है।

जोडिवसवनपुरमें हुण्डिसिद्दन चिक्कके खेतके पास एक पाषाण पर उत्कीर्ण लेखमें लिखा है[5] कि उस अकलंकदेवकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है, जिसके वचनरूपी खड्ग (तलवार)के प्रहारसे आहत होकर बुद्ध बुद्धिरहित होगया।

जिस समय अकलंकने कार्यक्षेत्रमें पदार्पण किया वह समय बौद्धयुग-

---

१. प्रकटिततीर्थान्तरीयकलंकोऽप्यकलंकोप्याह। —स्याद्वादरत्नाकर

२. तर्कभूवल्लभो देवः स जयत्यकलंकधीः।
जगद्द्रव्यमुषो येन दण्डिता शाक्यदस्यवः॥ —पार्श्वनाथचरित

३. श्रीमद्भट्टाकलङ्कस्य पातु पुण्या सरस्वती।
अनेकान्तमरुन्मार्गे चन्द्रलेखायितं यया॥ —ज्ञानार्णव

४. अकलंकगुरुर्जीयादकलंकपदेश्वरः।
बौद्धानां बुद्धिवैधव्यदीक्षागुरुरुदाहृतः॥ —हनुमच्चरित

५. तस्याकलङ्कदेवस्य महिमा केन वर्ण्यते।
यद्वाक्यखड्गघातेन हतो बुद्धो विबुद्धिः सः॥

प्रायश्चित्तमिवांघ्रिवारिजरजः स्नानं च यस्याचर-
द्दोषाणां सुगतः स कस्य विषयो देवाकलंकः कृतिः ॥

पाण्डवपुराणमें तारादेवीके घटको पैरसे ठुकरानेका उल्लेख इस प्रकार है—

अकलंकोऽकलंकः स कलौ कलयतु श्रुतम् ।
पादेन ताडिता येन मायादेवी घटस्थिता ॥

इसीप्रकार मान्यखेटके राजा साहसतुंगकी सभामें अकलंकके जानेका उल्लेख भी मल्लिषेण प्रशस्तिमें है। उक्त उल्लेखोंसे सिद्ध होता है कि अकलंक देव एक महावादी और शास्त्रार्थी थे।

अकलंक परिचय

अन्य आचार्योंकी तरह अकलंक देवने भी अपने किसी ग्रन्थमें अपना कुछ भी परिचय नहीं लिखा है। किन्तु अन्य स्रोतोंके आधार पर उनके विषयमें जो जानकारी प्राप्त हुई है वह निम्न प्रकार है।

प्रभाचन्द्रके गद्य कथाकोश, ब्रह्मचारी नेमिदत्तके पद्य कथाकोश और कन्नड़ भाषाके 'राजावली कथे' नामक ग्रन्थोंमें अकलंककी जीवन कथा मिलती है। कथाकोशके अनुसार अकलंककी जन्मभूमि मन्यखेट थी और वे वहाँके राजा शुभतुंगके मंत्री पुरुषोत्तमके पुत्र थे। मान्यखेट नगर एक समय राष्ट्रकूटवंशी राजाओंकी राजधानी था और राष्ट्रकूटवंशी राजाओं-मेंसे कृष्णराज प्रथम शुभतुग नामसे प्रसिद्ध था। तथा उसके भतीजे दन्तिदुर्गका दूसरा नाम साहसतुग था। और अकलंक साहसतुंगकी सभामें गये थे। राजावली कथेके अनुसार अकलङ्क काञ्चीके जिनदास नामक ब्राह्मणके पुत्र थे। काञ्ची नगर इतिहासमें प्रसिद्ध है। यह द्रविण देशकी राजधानी था। इसे दक्षिण भारतकी काशी कहा जाता है।

अकलंकदेवके तत्त्वार्थराजवार्तिक नामक ग्रन्थके प्रथम अध्यायके अन्तमें एक श्लोक पाया जाता है जिसमें उन्हें लघुहव्व नृपतिका पुत्र वतलाया गया है। वह श्लोक निम्न प्रकार है—

जीयाच्चिरमकलङ्कब्रह्मा लघुहव्वनृपतिवरतनयः ।
अनवरतनिखिलजननुतविद्यः प्रशस्तजनहृद्यः ॥

इससे ज्ञात होता है कि अकलंक एक राजपुत्र थे और उनके पिताका नाम लघुहव्व था। यह भी निश्चित प्रतीत होता है कि अकलङ्क दक्षिण भारतके निवासी थे। भट्ट इनकी उपाधि थी। इस उपाधिका प्रयोग इनके नामके पहले किया जाता है। और नामके आगे 'देव' शब्दका प्रयोग भी देखा जाता है। इससे प्रतीत होता है कि वे देवके समान पूज्य थे।

अकलङ्क देवकी तरह प्रज्ञाकर गुप्तने भी पीतशंखादि ज्ञानको संस्थान मात्र अंशमें प्रमाण तथा पीतांशमें अप्रमाण माना है। उनका कहना है कि पीतशंखादि ज्ञानोंके द्वारा अर्थक्रिया नहीं होती है, अतः वे प्रमाण नहीं हैं। किंतु संस्थानमात्र अंशसे होनेवाली अर्थक्रिया तो उनसे भी हो सकती है, अतः उस अंशमें उन्हें अनुमानरूपसे प्रमाण मानना चाहिए। तथा अन्य अंशमें संशय मानना चाहिए। इस प्रकार एक ज्ञानमें आंशिक प्रमाणता और आंशिक अप्रमाणता सिद्ध होती है[1]। अष्टशतीमें अकलङ्क देवने प्रज्ञाकर गुप्तकी संस्थानमात्रमें अनुमान माननेकी बातका खण्डन किया है[2]।

परोक्ष प्रमाण वैशिष्ट्य

अकलङ्क देवने परोक्ष प्रमाणके प्रकरणमें नैयायिकके उपमान प्रमाणकी आलोचना करते हुए प्रत्यभिज्ञानके एकत्व, सादृश्य, प्रतियोगी आदि अनेक भेदोंका उपपादन किया है। और उपमानका सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमें अन्तर्भाव किया है। तथा सर्वदेशावच्छेदेन और सर्वकालावच्छेदेन व्याप्तिज्ञानके लिए तर्क प्रमाणकी आवश्यकता सिद्ध की है। साध्य और साध्याभासका स्वरूप स्थिर किया है[3]। हेतु और हेत्वाभासकी व्यवस्था की है। जैनाचार्योंने प्रारंभसे ही अन्यथानुपपन्नत्व या अविनाभावको साधनका एकमात्र लक्षण माना है। अकलङ्कने बौद्धोंके

---

१. पीतशंखादिविज्ञानं तु न प्रमाणमेव तथार्थक्रियाव्याप्तेरभावात्। संस्थानमात्रार्थक्रियाप्रसिद्धावन्यदेव ज्ञानं प्रमाणमनुमानम्, तथाहि
प्रतिभास एवम्भूतो यः स न संस्थानवर्जितः।
एवमन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा च तत् ॥
ततोऽनुमानं संस्थाने, संशयः परत्रेति प्रत्ययद्वयमेतत् प्रमाणमप्रमाणं च। अनेन मणिप्रभायां मणिज्ञानं व्याख्यातम्।

प्रमाणवार्तिकालंकार पृ० ६

२. नापि लैङ्गिकं लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धाप्रतिपत्तेः अन्यथा दृष्टान्तेतरयोरेकत्वात् किं केन कृतं स्यात्।

अष्टश० अष्टस० पृ० २७७

३. साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम्।
साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः ॥

न्यायविनिश्चय श्लो० १७२

अकलङ्कदेवने जब अन्यथानुपपन्नत्वको ही हेतुका एकमात्र लक्षण माना है तब स्वभावतः उनके मतसे अन्यथानुपन्नत्वके अभावमें एक ही हेत्वाभास होना चाहिए। उन्होंने स्वयं कहा है[1] कि वस्तुतः एक असिद्ध ही हेत्वाभास है। यतः अन्यथानुपपत्तिका अभाव अनेक प्रकारसे होता है, अतः विरुद्ध, असिद्ध, सन्दिग्ध और अकिञ्चित्करके भेदसे चार हेत्वाभास भी हो सकते हैं। एक स्थानमें तो उन्होंने विरुद्ध आदिको अकिंचित्करका ही विस्तार कहा है[2]। वास्तवमें हेत्वाभास और जातिका जैसा विवेचन आचार्य अकलंकके ग्रन्थोंमें मिलता है वैसा उससे पहले किसी जैन ग्रन्थमें नहीं मिलता। अकलङ्कने ही प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगीके भेदसे सप्तभंगीके दो भेद किये हैं।

जय पराजय व्यवस्था

न्यायदर्शनमें जल्प और वितण्डामें छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे असत् उपायोंका अवलम्बन लेना भी न्याय्य माना गया है। क्योंकि जल्प और वितण्डाका उद्देश्य तत्त्व संरक्षण करना है। और तत्त्वका संरक्षण किसी भी उपायसे करनेमें कोई आपत्ति नहीं मानी गयी है। नैयायिकोंने जब जल्प और वितण्डामें छल, जाति और निग्रहस्थानका प्रयोग स्वीकार कर लिया तो वादमें भी उन्हींके आधारपर जयपराजयकी व्यवस्था बन गयी। न्यायदर्शनमें प्रतिज्ञाहानि आदि २२ निग्रहस्थान माने गये हैं।

धर्मकीर्तिने 'वादन्याय'में छल, जाति और निग्रहस्थानके आधारसे होनेवाली जय पराजयकी व्यवस्थाका खण्डन करते हुए वादीके लिए असाधनांगवचन और प्रतिवादीके लिए अदोषोद्भावन ये दो ही निग्रह-स्थान माने हैं[3]। वादीका कर्तव्य है कि वह पूर्ण और निर्दोष साधन बोले और प्रतिवादीका कर्तव्य है कि वह यथार्थ दोषोंका उद्भावन करे। इतना कहनेके बाद धर्मकीर्तिने असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावनके अनेक अर्थ किये हैं। उन्होंने कहा है कि अन्वय या व्यतिरेक किसी

१. अन्यथासम्भवाभावभेदात् स बहुधा मतः।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरैः॥ —न्यायविनि० २।२६५

२. अकिञ्चित्कारकान् सर्वान् तान् वयं संगिरामहे। —न्यायविनि० २।३७१

३. असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते॥ —वादन्याय० पृ० १

नहीं पढ़ना चाहिए'। [illegible] विशेष
प्रकाशमें [illegible] है।

आलोचन कौशल

[illegible] आलोचक धर्मकीर्ति [illegible] और उसके निराकरणके लिए [illegible] किन्तु निर्भीकमना आचार्य [illegible] में उन समस्याओं [illegible] उन्हींके शब्दोंमें दिया है। और [illegible] उपहास करते हुए उत्तर दिया है। जैसे—

धर्मकीर्ति कहते हैं

सर्वस्योभयरूपत्वे [illegible] ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥ —प्रमाणवा० ३।१८२

अर्थात् यदि प्रत्येक वस्तु उभयात्मक है और किसी वस्तुमें कोई विशेषता नहीं है तो दहीको खानेके लिए कहा गया मनुष्य ऊँटको क्यों नहीं खा लेता।

अकलंकदेव उत्तर देते हैं—

> पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः
> सुगतोऽपि मृगो जातः मृगोऽपि सुगतः स्मृतः।
> तथापि सुगतो वन्द्यो मृगः खाद्यो यथेष्यते ॥
> तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितेः।
> चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रमभिधावति ॥
>
> —न्यायविनि० २०३, २०४

अर्थात् पूर्व पक्षको ठीकसे न समझ सकनेके कारण दूषण देनेवाला विदूषक ही है। सुगत मृग हुए थे और मृग भी सुगत हुआ। फिर भी बौद्ध सुगतकी वन्दना करते हैं और मृगको खाद्य मानते हैं। ठीक उसी प्रकार पर्याय भेदसे दही और ऊँटके शरीरमें भेद है। अतः दही खानेके लिए कहा गया मनुष्य दहीको ही खाता है, ऊँटको नहीं। यहाँ 'दूषकोऽपि विदूषकः' वाक्य ध्यान देने योग्य है।

अनेकान्तकी आलोचना करते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं—

भेदानां बहुभेदानां तत्रैकस्मिन्नयोगतः। —प्रमाणवा० ३।९०

१. प्रतिज्ञानुपयोगे शास्त्रादिष्वपि नाभिधीयेत, विशेषाभावात्। —अष्टश० अष्टस० पृ० ८३

सर्वाङ्गीण अभ्यास किया था। इसके साथ ही जैन दार्शनिक तथा आगमिक साहित्य भी उन्हें विपुलमात्रामें प्राप्त था। अतः अपने समयमें उपलब्ध जैनवाङ्मय तथा जैनेतर वाङ्मयका सांगोपांग अध्ययन और मनन करके आचार्य विद्यानन्दने यथार्थमें अपना नाम सार्थक किया था। यही कारण है कि उनके द्वारा रचित ग्रन्थोंमें समस्त दर्शनोंका किसी न किसी रूपमें उल्लेख मिलता है। आचार्य विद्यानन्दने अपने पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थकारों-के नामोल्लेख पूर्वक और कहीं कहीं विना नामोल्लेखके उनके ग्रन्थोंसे अपने ग्रन्थोंमें अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। तथा पूर्वपक्षके रूपमें अन्य दार्शनिकोंके सिद्धान्तोंको प्रस्तुत करके प्राञ्जल भाषामें उनका निरसन किया है। उनके ग्रन्थोंका प्रायः वहुभाग बौद्धदर्शनके मन्तव्योंकी विशद आलोचनाओंसे भरा हुआ है। अकलंकदेवके तो आचार्य विद्यानन्द प्रमुख टीकाकार हैं। अकलंकदेवकी अष्टशती इतनी गहन और गूढ है कि यदि आचार्य विद्यानन्द इस पर अष्टसहस्री न वनाते तो इसका रहस्य इसीमें छिपा रह जाता। इसीलिए आचार्य वादिराजने अपने न्यायविनिश्चय विवरणमें विद्यानन्दका स्मरण करते हुए लिखा है[1] कि यदि गुणचन्द्रमुनि, अनवद्यचरण विद्यानन्द और सज्जन अनन्तवीर्य ये तीनों विद्वान् अकलंक देवके गंभीर शासनके तात्पर्यकी व्याख्या न करते तो कौन उसे समझनेमें समर्थ था। इसी प्रकार पार्श्वनाथ चरितमें उन्होंने विद्यानन्दके तत्त्वार्था-लंकार और देवागमालंकारकी प्रशंसा करते हुए लिखा है[2]—आश्चर्य है कि विद्यानन्दके इन दीप्तिमान् अलंकारोंको सुनने वालोंके भी अंगोंमें दीप्ति (कान्ति) आ जाती है। उन्हें धारण करने वालोंकी तो वात ही क्या है।

आचार्य प्रभाचन्द्रने भी प्रमेयकमलमार्तण्डके प्रथम परिच्छेदके अन्तमें 'विद्यानन्दसमन्तभद्रगुणतो नित्यं मनोनन्दनम्' इस श्लोकांशमें श्लिष्टरूपसे विद्यानन्दका नामोल्लेख किया है। पत्रपरीक्षाकी प्रशस्तिमें एक श्लोक निम्न प्रकार है—

जीयान्निरस्तनिःशेषसर्वथैकान्तशासनम् ।
सदा श्रीवर्धमानस्य विद्यानन्दस्य शासनम् ॥

---

१. देवस्य शासनमतीवगभीरमेतत्तात्पर्यतः क इह वोद्धुमतीवदक्षः।
विद्वान्न चेद् सद्गुणचन्द्रमुनिर्न विद्यानन्दोऽनवद्यचरणः सदनन्तवीर्यः॥

२. ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानन्दस्य विस्मयः।
शृण्वतामप्यलङ्कारं दीप्तिरंगेषु रंगति॥ —पार्श्वना० चरि० श्लो० २२

और राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथमके समकालीन थे। और उन्होंने अपनी कृतियाँ प्रायः उन्हींके राज्यकालमें बनायी थीं। विद्यानन्दका कार्यक्षेत्र भी गंगवंशका गंगवाडि प्रदेश रहा होगा। गंग राजाओंका राज्य मैसूर प्रान्तमें था। शिलालेखों और दानपत्रोंसे ज्ञात होता है कि इस राज्यके साथ जैनधर्मका घनिष्ट सम्बन्ध था। श्रीमान् पं० डॉ० दरबारीलालजी कोठियाने आप्तपरीक्षाकी प्रस्तावनामें विद्यानन्दका समय ईस्वी सन् ७७५ से ८४० तक सिद्ध किया है।

आचार्य विद्यानन्दकी रचनाएं

अकलंकदेवकी तरह आचार्य विद्यानन्दकी रचनाएँ भी दो प्रकार की हैं—टीकात्मक और स्वतंत्र। अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और युक्त्यनुशासनालंकार ये तीन टीकात्मक रचनाएँ हैं। आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र और विद्यानन्द-महोदय ये छह स्वतन्त्र रचनाएँ हैं। इनमेंसे अन्तिम रचनाको छोड़कर शेष सब उपलब्ध तथा प्रकाशित हैं। अन्तिम रचना अनुपलब्ध है।

अष्टसहस्री

यह आचार्य समन्तभद्र द्वारा विरचित आप्तमीमांसापर विस्तृत और महत्त्वपूर्ण व्याख्या है। इस व्याख्यामें अकलंकदेव द्वारा रचित अष्टशती को इस प्रकारसे आत्मसात् कर लिया गया है, जैसे वह अष्टसहस्रीका ही अंग हो। यदि आचार्य विद्यानन्द अष्टसहस्रीको न बनाते तो अष्टशतीका रहस्य समझमें नहीं आ सकता था। क्योंकि अष्टशतीका प्रत्येक पद और वाक्य इतना जटिल और गूढ है कि अष्टसहस्रीके बिना विद्वान् का भी उसमें प्रवेश होना अशक्य है। आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें अपनी सूक्ष्म बुद्धिसे आप्तमीमांसा और अष्टशतीके हार्दको विशेषरूपसे स्पष्ट किया है। आप्तमीमांसा और अष्टशतीमें निहित तथ्योंके उद्घाटनके अतिरिक्त अष्टसहस्रीमें अनेक नूतन विचारोंका भी समावेश किया गया है। हम कह सकते हैं कि अष्टसहस्रीमें पूर्वपक्ष या उत्तरपक्ष-के रूपमें समस्त दर्शनोंके सिद्धान्तोंका विवेचन किया गया है। इसीलिए आचार्य विद्यानन्दने साधिकार कहा है[1] कि हजार शास्त्रोंके सुननेसे

---

१. श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।
विज्ञायते ययैव स्वसमयपरसमयसद्भावः॥ —अष्टस० पृ० १५७

तथा चेतनमें अचेतनताका प्रसंग प्राप्त होगा। बारहवीं कारिकामें कहा गया है कि अभावैकान्त मानने पर न बोध प्रमाण हो सकता है और न वाक्य। और प्रमाणके अभावमें स्वपक्षसिद्धि तथा परपक्षदूषण संभव नहीं है। तेरहवीं कारिकामें कहा गया है कि वस्तुको सर्वथा भावरूप और सर्वथा अभावरूप अर्थात् दोनों एकान्तरूप नहीं माना जा सकता। तथा उसे सर्वथा अवाच्य भी नहीं कहा जा सकता। १४ से १६ तक तीन कारिकाओं द्वारा स्याद्वादनयकी अपेक्षासे वस्तुको कथंचित् सत्, असत्, उभय, अवाच्य, सदवाच्य, असदवाच्य और सदसदवाच्य सिद्ध किया गया है। १७ से २१ तक पाँच कारिकाओं द्वारा यह बतलाया गया है कि अस्तित्व नास्तित्वका अविनाभावी है और नास्तित्व अस्तित्वका अविनाभावी है। और अस्तित्व-नास्तित्वरूप वस्तु ही शब्दका विषय होती है। जो वस्तु विधि और निषेधरूप नहीं है वह अर्थक्रिया भी नहीं कर सकती है। अर्थात् सर्वथा एकान्तरूप वस्तु अर्थक्रिया नहीं करती है। बाईसवीं कारिकामें बतलाया गया है कि अनन्तधर्मात्मक वस्तुके प्रत्येक धर्मका अर्थ (प्रयोजन) भिन्न होता है। और उनमेंसे किसी एक धर्मके मुख्य होने पर शेष धर्म गौण हो जाते हैं। तेईसवीं कारिकामें कहा गया है कि सत्त्व-असत्त्वकी तरह एकत्व-अनेकत्व आदि धर्मोंमें भी पूर्वोक्त सप्तभंगीकी प्रक्रियाकी योजना कर लेना चाहिये।

द्वितीय परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेदमें २४ से ३६ तक १३ कारिकाएँ हैं। चौबीसवीं और पच्चीसवीं कारिका द्वारा अद्वैतैकान्तकी समीक्षा करते हुए बतलाया गया है कि वस्तुको सर्वथा एक मानने पर कारक-भेद, क्रिया-भेद, पुण्य-पापरूप कर्मद्वैत, सुख-दुःखरूप फलद्वैत, इहलोक-परलोकरूप लोकद्वैत, विद्या और अविद्याका द्वैत तथा बन्ध और मोक्षका द्वैत, यह सब नहीं बन सकेगा। २६वीं कारिका द्वारा कहा गया है कि हेतुसे अद्वैतकी सिद्धि करने पर हेतु और साध्यका द्वैत हो जायगा। और हेतुके बिना सिद्धि मानने पर वचनमात्रसे ही सबकी इष्ट सिद्धि हो जायगी। २७वीं कारिकामें बतलाया गया है कि बिना द्वैतके अद्वैत सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रतिषेध्यके बिना (द्वैतके अभावमें) संज्ञी (द्वैत) का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता है। २८वीं कारिका द्वारा सर्वथा पृथक्त्ववादी (भेदैकान्तवादी) वैशेषिकोंकी आलोचना करते हुए बतलाया गया है कि पृथक्त्व गुणसे द्रव्यादिको अपृथक् नहीं माना जा सकता है, क्योंकि गुण और गुणी

लिए व्यापर भी संभव नहीं है। ३९वीं और ४०वीं कारिकामें बतलाया है कि यदि कार्य सर्वथा सत् है, तो पुरुषकी तरह उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसके अतिरिक्त नित्यत्वैकान्तवादियोंके यहाँ पुण्य-पापकी क्रिया, प्रेत्यभाव (जन्मान्तर) कर्मफल, बन्ध और मोक्ष नहीं बन सकते हैं। ४१वीं कारिकामें कहा गया है कि क्षणिकैकान्त पक्षमें भी प्रेत्यभाव आदिका असंभव है। और प्रत्यभिज्ञान आदिके अभावमें ज्ञानरूप कार्यका आरम्भ भी नहीं हो सकता है। ४२वीं कारिकामें कहा गया है कि यदि कार्य सर्वथा असत् है, तो आकाशपुष्पके समान वह उत्पन्न नहीं हो सकता है, उपादान कारणका कोई नियम नहीं बन सकता है और कार्यकी उत्पत्तिमें कोई विश्वास भी नही किया जा सकता है। ४३वीं कारिकामें यह बतलाया है कि क्षणिकैकान्तमें पूर्वोत्तरक्षणोंमें अन्वय न होनेके कारण हेतुभाव और फलभाव नहीं बन सकते हैं। सन्तानियोंसे पृथक् एक सन्तानकी सिद्धि भी नहीं हो सकती है। ४४वीं कारिका द्वारा यह कहा गया है कि यदि संतान संवृति है तो वह मिथ्या होगी। और यदि वह मुख्य अर्थ है तो संवृति नहीं हो सकती है। क्योंकि मुख्य अर्थके बिना संवृत्ति नहीं होती है। ४५वीं और ४६वीं कारिकामें कहा गया है कि यदि सब धर्मोमें चतुष्कोटि विकल्पका कथन शक्य न होनेसे सन्तान और संतानीमें एकत्व और नानात्वको अवाच्य माना जाय तो ऐसा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि जो सब धर्मोसे रहित है, वह अवस्तु है तथा उसमें विशेषण-विशेष्यभाव भी नहीं बन सकता है। ४७वीं कारिकामें कहा गया है कि जो संज्ञी सत् होता है उसीका पर द्रव्य आदिकी अपेक्षासे निषेध किया जाता है। जो सर्वथा असत् है वह विधि-निषेधका विषय नहीं हो सकता है। ४८वीं कारिका द्वारा यह बतलाया गया है कि जो सब धर्मोसे रहित है वह अवस्तु है और अवस्तु होनेसे अनभिलाप्य भी है। तथा पर द्रव्यादिकी अपेक्षासे वस्तु ही अवस्तु हो जाती है। ४९वीं कारिकामें यह कहा है कि यदि सब धर्म अवक्तव्य हैं, तो उनका कथन कैसे हो सकता है। और उनके कथनको संवृतिरूप माननेपर वह कथन मिथ्या ही होगा, परमार्थ नहीं। ५०वीं कारिका द्वारा पूँछा गया है कि तत्त्व अवाच्य क्यों है। अशक्यता या अबोधके कारण तो उसे अवाच्य नहीं कहा जा सकता है। अतः यही कहना चाहिए कि अभाव होनेसे तत्त्व अवाच्य है। ५१वीं कारिकामें कहा गया है कि क्षणिकैकान्त पक्षमें कृतनाश और अकृताभ्यागमका प्रसंग आता है। हिंसाके अभिप्रायसे रहित व्यक्ति हिंसा करता है और हिंसाके अभिप्रायसे युक्त व्यक्ति हिंसा नहीं करता

द्वेषादिरूप परिणामोंसे होता है। कर्मबन्ध करने वाले जीव शुद्धि और अशुद्धिके भेदसे दो प्रकारके हैं। १००वीं कारिका द्वारा यह कहा गया है कि पाक्य और अपाक्य शक्तिकी तरह शुद्धि और अशुद्धि ये दो शक्तियाँ हैं, और इनकी व्यक्ति (अभिव्यक्ति) क्रमशः सादि और अनादि है।

१०१वीं कारिकामें प्रमाणका स्वरूप बतलाकर उसके अक्रमभावी और क्रमभावी ये दो भेद किये गये हैं तथा उन्हें स्याद्वादनयसंस्कृत बतलाया गया है। १०२वीं कारिकामें प्रमाणका फल बतलाया गया है। केवलज्ञानका साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति है और परम्पराफल उपेक्षा है। मति आदि ज्ञानोंका साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति है और परम्पराफल आदानबुद्धि उपादानबुद्धि और उपेक्षाबुद्धि है। १०३वीं कारिका द्वारा बतलाया गया है कि 'स्याद्वाद' शब्दके अन्तर्गत 'स्यात्' शब्द एक धर्मका वाचक होता हुआ अनेकान्तका द्योतक होता है। १०४वीं कारिकामें कहा गया है कि सर्वथा एकान्तका त्याग कर देनेसे स्याद्वाद सात भंगों और नयोंकी अपेक्षा सहित होता है। तथा वह हेय और उपादेयमें भेद कराता है। १०५वीं कारिकामें स्याद्वाद (श्रुतज्ञान) के महत्त्वको बतलाते हुए कहा गया है कि स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों सर्वतत्त्वप्रकाशक हैं। उनमें केवल यही अन्तर है कि केवलज्ञान साक्षात् तत्त्वोंका प्रकाशक है और स्याद्वाद असाक्षात् उनका प्रकाशक है। १०६वीं कारिकामें हेतु तथा नयका स्वरूप बतलाया गया है। १०७वीं कारिकामें द्रव्यका स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि नय और उपनयोंके विषयभूत त्रिकालवर्ती धर्मोंके समुच्चयका नाम द्रव्य है। १०८वीं कारिका द्वारा एक महत्त्व पूर्ण शंकाका समाधान किया गया है। शंका यह है कि एकान्तोंके समूह का नाम अनेकान्त है और एकान्त मिथ्या हैं तब उनका समूह अनेकान्त भी मिथ्या होगा। शंकाका समाधान करते हुए कहा गया है कि निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय अर्थक्रियाकारी होते हैं। अतः सापेक्ष एकान्तोंका समूह अनेकान्त मिथ्या नहीं है। १०९वीं कारिका द्वारा यह बतलाया गया है कि अनेकान्तात्मक अर्थका वाक्य द्वारा नियमन कैसे होता है। जो लोग विधिवाक्यको केवल विधिका और निषेधवाक्यको केवल निषेधका नियामक मानते हैं, उनकी समीक्षा करते हुए कहा गया है कि चाहे विधिवाक्य हो, और चाहे निषेधवाक्य दोनों ही विधि और निषेधरूप अनेकान्तात्मक अर्थका बोध कराते हैं। ११०वीं कारिकामें 'वाक्य विधिके द्वारा ही वस्तुतत्त्वका नियमन करता है' ऐसे एकान्तका निराकरण करते हुए कहा गया है कि वस्तु तत् और अतत्‌रूप है। जो उसे

इसके अनन्तर आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसारमें आत्माकी सर्वज्ञताको सम्यक्रूपसे सिद्ध किया है। उन्होंने इसकी विशद व्याख्या करते हुए केवलज्ञानको त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्योंको जाननेवाला बतलाकर यह भी कहा है कि जो अनन्त पर्यायवाले एक द्रव्यको नहीं जानता वह सबको कैसे जान सकता है, और जो सबको नहीं जानता वह अनन्त पर्यायवाले एक द्रव्यको पूरी तरह कैसे जान सकता है[1]। आचार्य गृद्धपिच्छने भी केवलज्ञानका विषय समस्त द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंको बतलाया है[2]। इस प्रकार जैनाचार्योंने आगममें सर्वज्ञके यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन किया है।

आत्मज्ञ और सर्वज्ञ

कोई कह सकता है कि मोक्षमार्गका उपदेश देनेके लिए सर्वज्ञ होनेकी क्या आवश्यकता है। मोक्षमार्गका उपदेश देनेके लिए तो आत्मज्ञ होना ही पर्याप्त है। इसके उत्तरमें यह कहा गया है कि जो एकको जानता है वह सबको जानता है। आत्मा ज्ञानमय है और ज्ञानमय होनेके नाते उसका सम्बन्ध समस्त ज्ञेयोंसे है। अतः अनन्त द्रव्योंके ज्ञायक स्वरूप आत्माको जानना ही सबको जानना है। आत्मज्ञ होनेसे सर्वज्ञता स्वतः प्राप्त हो जाती है। इसका तात्पर्य यही है कि आत्मज्ञतामेंसे सर्वज्ञता फलित होती है। आत्माको जानना मुख्य है और आत्माको जाननेसे सबका ज्ञान स्वयं प्राप्त हो जाता है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्दने नियमसारमें बतलाया है कि केवली भगवान् व्यवहारनयसे समस्त पदार्थोंको जानते और देखते हैं, परन्तु निश्चयनयसे वे आत्मस्वरूपको ही जानते और देखते हैं[1]। यहाँ कोई भ्रमवश ऐसा न समझ ले कि आचार्य कुन्दकुन्दने केवलज्ञानीको मात्र आत्मज्ञानी माना है। उनके मतसे आत्मज्ञ

---

१. जो ण विजाणादि जुगवं अत्थे तैकालिके तिहुवणत्थे ।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेकं वा ॥
दव्वमणंतपज्जयमेकमणंताणि दव्वजादाणि ।
ण वि जाणदि जदि जुगवं कध सो सव्वाणि जाणादि ॥
—प्रवचनसार १।४८,४९

२. सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य । —तत्त्वार्थसूत्र १।२९

३. जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं ।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥
—नियमसार (शुद्धोपयोगाधिकार) गा० १५८

इस प्रकार आचार्य समन्तभद्रने युक्तिके द्वारा सर्वज्ञको सिद्ध किया है। और उनके उत्तरवर्ती अकलंक, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य आदि प्रख्यात दार्शनिकोंने समन्तभद्रकी शैलीमें ही सर्वज्ञताका पूरा पूरा समर्थन किया है। अकलंकदेवने न्यायविनिश्चयमें बतलाया है कि आत्मामें समस्त पदार्थोंको जाननेकी पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्थामें उसका ज्ञान ज्ञानावरण कर्मसे आवृत रहता है, अतः उसका पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता। किन्तु जब ज्ञानके प्रतिबन्धक कर्मका पूर्ण क्षय हो जाता है, तब उस ज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंके जाननेमें क्या बाधा है[१]। अकलंकदेवने सर्वज्ञसाधक अन्य भी कई तर्क प्रस्तुत किये हैं। उनमेंसे एक महत्त्वपूर्ण तर्क यह है कि सर्वज्ञके बाधक प्रमाणोंका असंभव सुनिश्चित होनेसे सर्वज्ञकी सत्तामें कोई संदेह नहीं है[२]। आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें एक श्लोक उद्धृत करके बतलाया है[३] कि आत्माका स्वभाव जाननेका है और जाननेमें जब कोई प्रतिबन्ध न रहे तब वह ज्ञेय पदार्थोंमें अज्ञ (न जाननेवाला) कैसे रह सकता है। जैसे अग्निका स्वभाव जलानेका है तो कोई प्रतिबन्धक न रहने पर वह दाह्य पदार्थको जलायेगी ही। उसी प्रकार ज्ञस्वभाव आत्मा प्रतिबन्धकके अभावमें सब पदार्थोंको जानेगा ही। आचार्य प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्डमें लिखा है[४] कि कोई आत्मा सम्पूर्ण पदार्थोंका साक्षात्कार करने वाला है। क्योंकि उसका स्वभाव उनको ग्रहण करनेका है और उसमें प्रतिबन्धके कारण नष्ट हो गये है। जिस प्रकार चक्षुका स्वभाव रूपके साक्षात्कार करनेका है और रूपके साक्षात्कार करनेमें प्रतिबन्धक कारणों (तिमिरादि)के अभावमें चक्षु रूपका साक्षात्कार अवश्य करती है, उसी प्रकार ज्ञानके प्रतिबन्धक कारणोंके अभावमें आत्मा भी समस्त पदार्थोंका साक्षात्कार अवश्य करता है।

---

१. दृष्टव्य—न्यायविनिश्चय का० न० ३६१, ३६२, ४१०,४१४, ४६५।

२. अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्।
—सिद्धिवि० टी० पृ० ४२१

३. ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने॥ —अष्टस० पृ० ५०

४. कश्चिदात्मा सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभाववत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्, यद् यद्ग्रहणस्वभाववत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययं तत्तत्साक्षात्कारि, यथापगततिमिरादिप्रतिबन्धं लोचनविज्ञानं रूपसाक्षात्कारि, तद्ग्रहणस्वभाववत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययश्च कश्चिदात्मेति।
—प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० २५५

कारण होता है। वही प्रमाण है। प्रमाणके द्वारा पदार्थका ज्ञान होनेमें विशेष न होने पर भी प्रमाण इसके विपरीत विचार है।

बौद्ध प्रत्यक्ष (निर्विकल्पक) और बौद्ध दर्शनमें सारूप्यको प्रमाण मानते हैं। नैयायिक-वैशेषिक इन्द्रिय और अर्थके सन्निकर्षको, सांख्य-योग इन्द्रियकी वृत्तिको और मीमांसक ज्ञातृव्यापारको प्रमाण मानते हैं। किन्तु जैन दर्शनमें ज्ञानको ही प्रमाण माना गया है। क्योंकि हितप्राप्ति अहितपरिहाररूप क्रियामें साधकतम करण ज्ञान ही हो सकता है, अचेतन सन्निकर्षादि नहीं। प्रमाणको पदार्थके विशेष ज्ञानमें साधकतम होना चाहिए, जैसे कि अन्धकारकी निवृत्तिमें अन्धकारका विरोधी प्रकाश कारण होता है। तथा प्रमाण हित प्राप्ति और अहित परिहारमें समर्थ होता है, अतः वह ज्ञान ही हो सकता है[1]।

बौद्धदर्शनमें अज्ञात अर्थके प्रकाशक ज्ञानको प्रमाण कहा गया है[2]। दिग्नागने विषयाकारको प्रमाण तथा स्वसंवित्तिको प्रमाणका फल माना है[3]। धर्मकीर्तिने न्यायबिन्दुमें अर्थसारूप्यको प्रमाण तथा अर्थप्रतीतिको फल कहा है[4]। इसके साथ ही धर्मकीर्तिने प्रमाणके लक्षणमें 'अविसंवादि' पदको जोड़कर दिग्नाग द्वारा प्रतिपादित लक्षणका ही समर्थन किया है[5]। तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षितने सारूप्य और योग्यताको प्रमाण माना है तथा विषयकी अधिगति (ज्ञान) और स्वसंवित्तिको फल कहा है[6]। मोक्षाकर गुप्तने अपनी तर्कभाषामें अपूर्व अर्थको विषय करनेवाले ज्ञानको प्रमाण कहा है[7]। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि बौद्धदर्शनमें ज्ञानको ही प्रमाण माना गया है, अज्ञानको नहीं। उनके यहाँ एक ही ज्ञान प्रमाण और फल दोनों होता है। यतः वह जिस विषयसे उत्पन्न होता है उसके

---

१. हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्। —परीक्षामुख १।२

२. अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम् —प्रमाणसमुच्चयटीका पृ० ११

३. स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः।
विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते॥ —प्रमाणसमुच्चय पृ० २४

४. अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्। तदेव च प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रमाणफलमर्थप्रतीतिरूपत्वात्। —न्यायबिन्दु पृ० १८

५. प्रमाणमविसंवादिज्ञानमज्ञातार्थप्रकाशो वा। प्रमाणवा० १।५

६. विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते।
स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा॥ तत्त्वसंग्रह का० १३४४

७. प्रमाणं सम्यग्ज्ञानमपूर्वगोचरम्। तर्कभाषा पृ० १

यहाँ यह विचारणीय है कि इन्द्रिय और इन्द्रियार्थसन्निकर्ष प्रमाके करण हो सकते हैं या नहीं। इन्द्रिय और इन्द्रियार्थसन्निकर्षको प्रत्यक्ष प्रमाका करण मानना उचित नहीं है, क्योंकि ये दोनों अज्ञानरूप हैं, अतः अज्ञानकी निवृत्तिरूप प्रमाके करण कैसे हो सकते हैं। अज्ञाननिवृत्तिमें अज्ञानका विरोधी ज्ञान ही करण हो सकता है। जैसे कि अज्ञानकी निवृत्ति में उसका विरोधी प्रकाश ही करण होता है। सन्निकर्षको प्रमाण माननेमें एक दोष यह भी है कि कहीं सन्निकर्षके रहनेपर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, और कहीं सन्निकर्षके अभावमें भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

वृद्ध नैयायिकोंने ज्ञानात्मक तथा अज्ञानात्मक दोनों ही प्रकारकी सामग्रीको प्रमाका करण माना है[1]। वे कारकसाकल्य अर्थात् इन्द्रिय, मन, पदार्थ, प्रकाश आदि कारणोंकी समग्रताको प्रमाण मानते हैं। इस विषयमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि अर्थकी उपलब्धिमें साधकतम कारण तो ज्ञान ही है, और कारकसाकल्यकी सार्थकता उस ज्ञानको उत्पन्न करनेमें है, क्योंकि ज्ञानको उत्पन्न किये विना कारकसाकल्य अर्थकी उपलब्धि नहीं करा सकता है। अतः प्रमाका करण ज्ञान ही हो सकता है, अज्ञानरूप कारकसाकल्य आदि नहीं।

मीमांसादर्शनमें प्राभाकर और भाट्ट दो सम्प्रदाय हैं। उनमेंसे प्राभाकरोंने अनुभूतिको प्रमाण माना है[2]। तथा ज्ञातृव्यापारको भी प्रमाण माना है[3]। किन्तु एक ही अर्थकी अनुभूति विभिन्न व्यक्तियोंको अपनी अपनी भावनाके अनुसार विभिन्न प्रकारकी होती है। इसलिए केवल अनुभूतिको प्रमाण नहीं माना जा सकता है। ज्ञातृव्यापारको प्रमाण माननेमें उनकी युक्ति यह है कि अर्थका प्रकाशन ज्ञाताके व्यापार द्वारा होता है, अतः ज्ञाताका व्यापार प्रमाण है। किन्तु ज्ञातृव्यापारको प्रमाण मानना ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञाताके व्यापारको अर्थके प्रकाशनमें या जाननेमें प्रमाण तभी माना जासकता है जब उसका व्यापार यथार्थ

---

१. अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्। न्यायमंजरी पृ० १२

२. अनुभूतिश्च नः प्रमाणम् बृहती १।१।५

३. तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार इष्यते।
तदेव च प्रमारूपं तद्वती करणं च धीः॥
व्यापारो न यदा तेषां तदा नोत्पद्यतेऽफलम्।
मीमांसाश्लो० वा० पृ० १५२

साधन बतलाया है। तत्त्वार्थसूत्रकारने प्रमाणका निर्देश तो किया है, किन्तु दार्शनिक दृष्टिसे उसका कोई लक्षण नहीं बतलाया। सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्रने प्रमाणका दार्शनिक लक्षण प्रस्तुत किया है। उन्होंने आप्तमीमांसामें तत्त्वज्ञानको प्रमाण बतलाकर उसके अक्रमभावी और क्रमभावी ये दो भेद किये हैं[1]। और तत्त्वज्ञानको स्याद्वादनयसंस्कृत बतलाया है। आचार्य समन्तभद्रने ही स्वयम्भूस्तोत्रमें स्व और परके अवभासक ज्ञानको प्रमाण बतलाया है[2]। इसके अनन्तर आचार्य सिद्धसेनने प्रमाणके लक्षणमें बाधवर्जित पद जोड़कर स्वपरावभासक तथा बाधवर्जित ज्ञानको प्रमाण माना है[3]। तदनन्तर अकलंक देवने इस लक्षणमें अविसंवादी और अनधिगतार्थग्राही[4] इन दो नये पदोंका समावेश करके अवभासकके स्थानमें व्यवसायात्मक पदका प्रयोग किया है[5]। इस लक्षणके अनुसार स्व और परका निश्चय करनेवाला, अविसंवादी (संशयादिका निरसन करनेवाला) और अनधिगत (अज्ञात) अर्थको जाननेवाला ज्ञान प्रमाण होता है। आचार्य विद्यानन्दने प्रमाणपरीक्षामें पहले सम्यग्ज्ञानको प्रमाणका लक्षण बतलाकर पुनः उसे स्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध किया है[6]। उन्होंने प्रमाणके लक्षणमें अनधिगत या अपूर्व विशेषण नहीं दिया है। क्योंकि उनके अनुसार ज्ञान चाहे गृहीत अर्थको जाने या अगृहीतको वह स्वार्थव्यवसायात्मक होनेसे ही प्रमाण है[7]। इसके अनन्तर आचार्य माणिक्यनन्दिने प्रमाणके लक्षणमें अपूर्ण विशेषणका समावेश करके स्व और

---

१. तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्॥ आप्तमीमांसा का० १०१

२. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणं भुविबुद्धिलक्षणम्। स्वयम्भूस्तोत्र श्लो० ६३

३. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्। न्यायावतार श्लो० १

४. प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।
अष्टश० अष्टस० पृ० १७५

५. व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्। लघीयस्त्रय का० ६०

६. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्। स्वार्थव्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानत्वात्।
प्रमाणपरीक्षा पृ० १

७. तत्स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं मानमितीयता।
लक्षणेन गतार्थत्वाद् व्यर्थमन्यद्विशेषणम्॥
गृहीतमगृहीतं वा यदि स्वार्थं व्यवस्यति।
तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम्॥ तत्त्वार्थश्लो० १।१०।७७,७८

भाषा की है[१]। किन्तु दार्शनिक परम्पराके अनुसार इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाले मति ज्ञानको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मान लिया गया है। अतः परसापेक्ष ज्ञानको प्रत्यक्षकी परिधिमें सम्मिलित कर लेनेसे प्रत्यक्षकी परिभाषामें भी परिवर्तन करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई।

प्रत्यक्षका लक्षण

आचार्य सिद्धसेनने अपरोक्षरूपसे अर्थके ग्रहण करनेवाले ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है[२]। इस लक्षणमें परोक्षके स्वरूपको समझे बिना प्रत्यक्षका स्वरूप समझमें नहीं आता है। अतः अकलंकदेवने लघीयस्त्रयमें विशद ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा[३]। और न्यायविनिश्चयमें स्पष्ट ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है[४]। उनके इस लक्षणमें 'साकार' और 'अञ्जसा' पदोंका भी प्रयोग हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि साकार ज्ञान जब अञ्जसा स्पष्ट अर्थात् परमार्थरूपसे विशद हो तब उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। जिस ज्ञानमें किसी अन्य ज्ञानकी अपेक्षा न हो वह विशद कहलाता है। इस प्रकार दार्शनिक परम्पराके अनुसार विशद ज्ञानको प्रत्यक्ष और अविशद ज्ञानको परोक्ष माना गया है।

प्रत्यक्षके भेद

प्रत्यक्षके दो भेद हैं—मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। मुख्य प्रत्यक्षके भी दो भेद हैं—सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष। सम्पूर्ण पदार्थों को युगपत् जाननेवाला केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। और नियत अर्थोंको पूर्णरूपसे जाननेवाले अवधिज्ञान और मनः पर्ययज्ञान विकल प्रत्यक्ष कहलाते हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके भी दो भेद हैं—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। और मनसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष

---

१. जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु।
जं केवलेण णादं हवदि हु जीवेण पच्चक्खं॥ प्रवचनसार गाथा ५८

२. अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशम्।
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेक्षया॥ न्यायावतार श्लोक ४

३. प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसांव्यवहारिकम्।
परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणे इति संग्रहः॥ लघीयस्त्रय श्लो० ३

४. प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा। न्यायविनि० श्लो० ३

प्रमाणपरीक्षामें लिखा है[1] कि अभ्यास होनेसे प्रामाण्य स्वतः सिद्ध हो जाता है, और अनभ्यासके कारण प्रामाण्यका निर्णय परसे होता है। इसी बातको आचार्य माणिक्यनन्दिने परीक्षामुखमें कहा है[2] कि कहीं प्रामाण्य का ज्ञान स्वतः होता है और कहीं परतः होता है। अर्थात् अभ्यस्त अवस्थामें तो जलज्ञानके प्रामाण्यका निर्णय स्वयं हो जाता है और अनभ्यस्त अवस्थामें शीतल वायुका स्पर्श, कमलोंकी सुगन्ध, मेढकोंका शब्द आदि पर निमित्तोंसे जलज्ञानकी सत्यताका निर्णय किया जाता है।

प्रामाण्य और अप्रामाण्यके ज्ञानके विषयमें अन्य दार्शनिकोंमें विवाद है। न्याय-वैशेषिक प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनोंको परतः, सांख्य दोनोंको स्वतः तथा मीमांसक प्रामाण्यको स्वतः और अप्रामाण्यको परतः मानते हैं। मीमांसकोंका कहना है कि जिन कारणोंसे ज्ञान उत्पन्न होता है उनके अतिरिक्त अन्य किसी कारणकी प्रामाण्यकी उत्पत्तिमें अपेक्षा नहीं होती है। उनके अनुसार प्रत्येक ज्ञान पहले प्रमाण ही उत्पन्न होता है। बादमें यदि ज्ञानके कारणोंमें दोषज्ञान अथवा बाधक प्रत्ययके द्वारा उसकी प्रमाणता दूर कर दी जाय तो वह अप्रमाण कहलाने लगता है। अतः जब तक कारणोंमें दोषज्ञान अथवा बाधक प्रत्ययका उदय न हो तब तक सब ज्ञान प्रमाण ही हैं। अतः ज्ञानमें प्रामाण्य स्वतः ही होता है। किन्तु अप्रामाण्यमें ऐसी बात नहीं है। अप्रामाण्यकी उत्पत्ति तो परतः ही होती है। क्योंकि उसमें ज्ञानके कारणोंके अतिरिक्त दोषरूप सामग्रीकी अपेक्षा होती है।

तत्त्वसंग्रहके टीकाकार कमलशीलने बौद्धोंका पक्ष अनियमवादके रूपमें बतलाया है[3]। वे कहते हैं 'प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों स्वतः, दोनों परतः, प्रामाण्य स्वतः अप्रामाण्य परतः और अप्रामाण्य स्वतः प्रामाण्य परतः' इन चार नियम पक्षोंसे अतिरिक्त पाँचवाँ अनियम पक्ष भी है, जो प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनोंको अवस्थाविशेषमें स्वतः और अवस्थाविशेषमें परतः माननेका है। यही पक्ष बौद्धोंको इष्ट है।

---

१. प्रामाण्यं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात् परतोऽन्यथा। — प्रमाणपरीक्षा

२. तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्च। — परीक्षामुख १।१३

३. नहि बौद्धैरेषां चतुर्णामेकतमोऽपि पक्षोऽभीष्टः, अनियमपक्षस्येष्टत्वात्। तथाहि—उभयमप्येतत् किञ्चित् स्वतः किञ्चित् परत इति पूर्वमुपवर्णितम्। अतएव पक्षचतुष्टयोपन्यासोऽप्ययुक्तः। पञ्चमस्यानियमपक्षस्य संभवात्।
—तत्त्वसं० प० का० ३१२३

गयी वस्तु न तो पूर्ण वस्तु कही जा सकती है और न अवस्तु, किन्तु वह वस्तुका एक देश ही हो सकती है[1]।

सुनय और दुर्नय

सुनय वह है जो अपने विवक्षित धर्मको मुख्यरूपसे ग्रहण करके भी अन्य धर्मोंका निराकरण नहीं करता है, किन्तु वहाँ उनकी उपेक्षा रहती है। दुर्नय वह है जो वस्तुमें अन्य धर्मोंका निराकरण करके केवल एक धर्मका अस्तित्त्व स्वीकार करता है। प्रमाण 'तत् और अतत्' उभय स्वभावरूप वस्तुको जानता है। नयमें मुख्यरूपसे 'तत्' या 'अतत्' किसी एक धर्मकी ही प्रतिपत्ति होती है। परन्तु दुर्नय प्रतिपक्षी अन्य धर्मोंका निराकरण करके केवल एक धर्मकी ही प्रतिपत्ति करता है[2]।

प्रमाण, नय और दुर्नयके भेदको वतलाने वाला निम्न श्लोक बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृतिः॥

अनेक धर्मात्मक अर्थका ज्ञान प्रमाण है, अन्य धर्मोंकी अपेक्षा पूर्वक उसके एक देशका ज्ञान नय है, और अन्य धर्मोंका निराकरण करना दुर्नय है।

इसका तात्पर्य यही है कि निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं। तथा अन्य धर्मोंकी अपेक्षा रखने वाला नय ही वस्तुके अंशका वास्तविक बोध करा सकता है। सामान्यरूपसे जितने शब्द हैं उतने ही नय होते हैं[3]। फिर भी द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय, निश्चयनय, व्यवहारनय, ज्ञाननय, अर्थनय, शब्दनय आदिके भेदसे नयके अनेक भेद किये गये हैं।

अनेकान्त विमर्श

संसारके समस्त दर्शन दो वादोंमें विभाजित हैं। एकान्तवाद और अनेकान्तवाद। जैनदर्शन अनेकान्तवादी है और शेष एकान्तवादी।

१. नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते॥ —तत्त्वार्थश्लोकवा० १।६

२. धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्णयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च। प्रमाणात्तदतत्स्वभावप्रतिपत्तेः तत्प्रतिपत्तेः तदन्यनिराकृतेश्च।
—अष्टश० अष्टस० पृ० २९०

३. जावइया वयणपहा तावइया होंति णयवाया। —सन्मति० ३।४७

परस्पर विरोधी धर्मयुगलोंका प्रकाशन करना ही अनेकान्त है। अकलंक देवने अष्टशती नामक भाष्यमें लिखा है[1] कि वस्तु सर्वथा सत् ही है अथवा असत् ही है, नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, इस प्रकार सर्वथा एकान्तके निराकरण करनेका नाम अनेकान्त है।

उक्त कथनसे यह फलित होता है कि परस्परमें विरोधी प्रतीत होने वाले दो धर्मोंके अनेक युगल वस्तुमें पाये जाते हैं। इसलिए नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत् इत्यादि परस्परमें विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक धर्मोंके समुदायरूप वस्तुको अनेकान्त कहनेमें कोई विरोधी नहीं है। वस्तु केवल अनेक धर्मोंका ही पिण्ड नहीं है, किन्तु परस्परमें विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक धर्मोंका भी पिण्ड है। प्रत्येक वस्तु विरोधी धर्मोंका अविरोधी स्थल है। वस्तुका वस्तुत्व विरोधी धर्मोंके अस्तित्वमें ही है। यदि वस्तुमें विरोधी धर्म न रहें तो उसका वस्तुत्व ही समाप्त हो जाय। अतः वस्तुमें अनेक धर्मोंके रहनेका नाम अनेकान्त नहीं है, किन्तु अनेक विरोधी धर्म युगलोंके रहनेका नाम अनेकान्त है। कोई वस्तु सत् है, नित्य है, और एक है, इतना होनेसे वह अनेकान्तात्मक नहीं मानी जा सकती। किन्तु वह सत् और असत् दोनों होनेसे अनेकान्तात्मक है। इसी प्रकार नित्य और अनित्य, एक और अनेक होनेसे वह अनेकान्तात्मक है। तात्पर्य यह है कि अनेक विरोधी धर्मोंका पिण्ड होनेसे वस्तु अनेकान्तात्मक है। वस्तुमें विरोधी धर्मोंके एक साथ रहनेमें कोई विरोध भी नहीं है, क्योंकि उसमें प्रत्येक धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षासे रहता है।

एकान्तवादियोंकी समझमें यह बात नहीं आती है कि एक ही वस्तुमें अनेक विरोधी धर्म कैसे पाये जाते हैं। वे सोचते हैं कि वस्तुमें विरोधी धर्मोंका होना तो नितान्त असंभव है। एकान्तवादी कहते हैं कि जो वस्तु सत् है वह असत् कैसे हो सकती है, जो वस्तु नित्य है वह अनित्य कैसे हो सकती है। सत् वस्तुके असत् होनेमें उन्हें विरोध आदि दोष प्रतीत होते हैं। इस प्रकार कहने वालोंके लिए आचार्य समन्तभद्रने उत्तर दिया है[2] कि स्वरूप आदि चतुष्टयकी अपेक्षासे सब वस्तुओंको सत् कौन नहीं मानेगा और पररूप आदि चतुष्टयकी अपेक्षासे उनको असत् कौन नहीं

१. सदसन्नित्यानित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः।

—अष्टश० अष्टस० पृ० २८६

२. सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥ आप्तमीमांसा का० १५

स्याद्वाद विमर्श

ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मात्मक है। और स्याद्वाद उस अनन्तधर्मात्मक वस्तुके प्रतिपादन करनेका एक साधन या उपाय है। अनेकान्त और स्याद्वाद शब्द पर्यायवाची नहीं हैं। अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक है। स्याद्वाद भाषाकी वह निर्दोष प्रणाली है जो अनन्तधर्मात्मक वस्तुका सम्यक् प्रतिपादन करती है। 'स्याद्वाद' यह संयुक्त पद है, जो 'स्यात्' और 'वाद' इन दो पदोंके मेलसे बनता है। 'वाद' का अर्थ है कथन या प्रतिपादन। और 'स्यात्' शब्द कथंचित् (किसी सुनिश्चित अपेक्षा) के अर्थमें प्रयुक्त होता है, संशय, संभावना या कदाचित्के अर्थमें नहीं। स्यात् शब्दके अर्थको ठीकसे न समझ सकनेके कारण कुछ लोग स्यात्का अर्थ संशय, संभावना आदि करके स्याद्वादको संशयवाद, संभावनावाद या अनिश्चयवाद कहते हैं। किन्तु उनका ऐसा कहना 'स्याद्वाद'के अर्थको ठीकसे न समझ सकनेके कारण ही है। स्याद्वादके अर्थको ठीकसे समझनेके लिए जैन शास्त्रोंपर दृष्टि डालना आवश्यक है।

'स्यात्' शब्द तिङन्तप्रतिरूपक निपात (अव्यय) है। और यह अनेकान्तका द्योतन करता है। 'स्यादस्ति घटः' इस वाक्यमें 'अस्ति' पद वस्तुके अस्तित्व धर्मका वाचक है, और 'स्यात्' पद उसमें रहने वाले नास्तित्व आदि शेष धर्मोंका द्योतन करता है। इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर आचार्य समन्तभद्रने कहा है[1] कि 'स्यात्' पद 'स्यात् सत्' इत्यादि वाक्योंमें अनेकान्तका द्योतक तथा गम्य (अभिधेय) अर्थका समर्थक होता है। उन्होंने यह भी बतलाया है कि यह सर्वथा एकान्तका त्याग करके कथंचित्के अर्थ में प्रयुक्त होता है[2]। अकलंकदेवने बतलाया है[3] कि अनेकान्तात्मक अर्थके कथनका नाम स्याद्वाद है। आचार्य अमृतचन्द्रने कहा है[4] कि कथंचित्के अर्थमें 'स्यात्' निपात शब्दका प्रयोग होता

---

१. वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि॥ —आप्तमीमांसा का० १०३

२. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।
—आप्तमीमांसा का० १०४

३. अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः। —लघीयस्त्रय स्वो० भा० ३।६२

४. सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तताद्योतकः कथंचिदर्थे स्यात् शब्दो निपातः।
—पञ्चास्तिकाय टीका

गोपी मथानेकी रस्सीके एक छोरको खींचती है और दूसरे छोरको ढीला कर देती है तथा रस्सीके आकर्षण और शिथिलीकरणके द्वारा दधिका मन्थन करके इष्ट तत्त्व घृतको प्राप्त करती है, उसी प्रकार स्याद्वाद-नीति भी एक धर्मके आकर्षण और शेष धर्मोंके शिथिलीकरण द्वारा अनेकान्तात्मक अर्थकी सिद्धि करती है।

भगवान् महावीरने इसी स्याद्वादनीतिके अनुसार उपदेश दिया था। वे स्याद्वादी, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे। उन्होंने वस्तुका सर्वाङ्गीण साक्षात्कार किया था। वे न संजयकी तरह अनिश्चयवादी थे, न गोशालककी तरह भूतवादी, और न बुद्धकी तरह अव्याकृतवादी। मालुंक्यपुत्रने बुद्धसे लोकके शाश्वत-अशाश्वत, सान्त-अनन्त, तथा जीव और देहकी भिन्नता अभिन्नता आदिके विषयमें दस प्रश्नोंको पूँछा था। और बुद्धने इन प्रश्नोंको अव्याकृत बतलाकर इनका कोई उत्तर नहीं दिया था। अव्याकृतका अर्थ है—व्याकरण अथवा कथनके अयोग्य। बुद्धने बतलाया था कि इन प्रश्नोंके विषयमें कुछ कहना न तो भिक्षुचर्याके लिए उपयोगी है और न निर्वेद, निरोध, शान्ति, परम ज्ञान या निर्वाणके लिए इनका कथन आवश्यक है। किन्तु भगवान् महावीरके समक्ष किसी प्रश्नको अव्याकृत कहनेका कोई अवसर ही नहीं आया। इसके विपरीत उन्होंने आत्मा, परलोक, निर्वाण आदिके विषयमें प्रत्येक प्रश्नका स्याद्वादनीतिके अनुसार नयुक्तिक, सार्थक और निश्चित उत्तर दिया। तथा विभिन्न दृष्टिकोणोंका स्याद्वादके अनुसार समन्वय किया।

समन्वयका मार्ग स्याद्वाद

यथार्थमें एक ही वस्तु विभिन्न दृष्टिकोणोंसे देखी जा सकती है। और उन अनेक दृष्टिकोणोंका प्रतिपादन तथा उनमें समन्वय स्याद्वादके द्वारा किया जाता है। यदि किसी वस्तुको पूर्णरूपसे समझना है तो इसके लिए विभिन्न दृष्टिकोणोंसे उसको समझना आवश्यक है। ऐसा किये बिना किसी भी वस्तुका पूर्ण रूप समझमें नहीं आ सकता। किसी भी विषयपर विभिन्न दृष्टिकोणोंसे विचार करनेका ही नाम स्याद्वाद है। और एक दृष्टिकोणसे किसी विषयपर विचार करना एकान्तवाद है। एकान्तवादी अपने दृष्टिकोणसे निश्चित किये गये सत्यको पूर्ण सत्य मानकर अन्य लोगोंके दृष्टिकोणोंको मिथ्या बतलाता है। मतभेदों तथा संघर्षोंका कारण यही एकान्त दृष्टि है। विभिन्न मतावलम्बी एकान्तवादके कारण ही अपनेको सच्चा और दूसरोंको झूठा मानते हैं। किन्तु जो विभिन्न दृष्टिकोणोंसे उन एकान्तों (धर्मों)को समझनेकी

लेकर सात प्रकारसे किया जाता है। और प्रत्येक धर्मके सात प्रकारसे प्रतिपादन करनेकी शैलीका नाम सप्तभंगी है। इसमें सात भंग (विकल्प) होनेके कारण इसका नाम सप्तभंगी है। अकलंकदेवने कहा है[1] कि एक वस्तुमें अविरोधपूर्वक वधि और प्रतिपेधकी कल्पना (विचार) करना सप्तभंगी है। अस्तित्व एक धर्म है और नास्तितत्व उसका प्रतिपक्षी धर्म है। अपने प्रतिपक्षी नास्तित्व सापेक्ष अस्तित्व धर्मकी अपेक्षासे सप्तभंगी निम्न प्रकार बनेगी।

१ स्यादस्ति घटः, २ स्यान्नास्ति घटः, ३ स्यादस्ति-नास्ति घटः, ४ स्यादवक्तव्यो घटः, ५ स्यादस्ति अवक्तव्यश्च घटः, ६ स्यान्नास्ति अवक्तव्यश्च घटः, ७ स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यश्च घटः।

१ घट कथंचित् है, २ घट कथंचित् नहीं है, ३ घट कथंचित् है, और नही है, ४ घट कथंचित् अवक्तव्य है, ५ घट कथंचित् है, और अवक्तव्य है, ६ घट कथंचित् नही है, और अवक्तव्य है। घट कथंचित् है, नहीं है, और अवक्तव्य है।

घट अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे है, तथा परद्रव्य क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे नहीं है। उक्त कथन पृथक् पृथक्रूपसे विभिन्न समयोंमें किया गया समझना चाहिये। अर्थात् कभी अस्तित्वका कथन किया गया हो और कभी नास्तित्वका कथन किया गया हो। घटमें अस्तित्वके कथनके बाद ही यदि नास्तित्वका कथन किया जाय तो घट उभयरूप (अस्ति और नास्तिरूप) सिद्ध होता है। यदि कोई उक्त दोनों धर्मोंको एक समयमें ही कहना चाहता है। तो ऐसा संभव नहीं है। क्योंकि शब्द एक समयमें एक ही धर्मका प्रतिपादन कर सकते हैं। ऐसी स्थितिमें घटको अवक्तव्य कहना पड़ता है। घट सर्वथा अवक्तव्य नहीं है, किन्तु किसी अपेक्षासे अवक्तव्य है। यदि वह सर्वथा अवक्तव्य होता तो 'घट अवक्तव्य है' ऐसा कथन भी नहीं हो सकता है। क्योंकि ऐसा कहनेसे घट कथंचित् वक्तव्य हो जाता है। घटमें पहले अस्तित्वकी विवक्षा हो और उसके बाद ही अस्तित्व और नास्तित्व दोनोंकी युगपत् विवक्षा हो तो घट 'स्यादस्ति अवक्तव्य' होता है। पहले नास्तित्वकी विवक्षा होनेसे और उसके बाद ही अस्तित्व और नास्तित्व दोनोंकी युगपत् विवक्षा होनेसे घट 'स्यान्नास्ति अवक्तव्य' होता है। पहले दोनों धर्मोंकी क्रमशः विवक्षा

१. प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी।

तत्त्वार्थवार्तिक १।६।५

आप्तको नियमसे वीतरागी, सर्वज्ञ और आगमका उपदेष्टा होना ही चाहिए। इन तीन गुणोंके बिना आप्तता नहीं हो सकती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य समन्तभद्रके समयमें बाह्य विभूति और चमत्कारोंको ही आप्तका सूचक माना जाने लगा था। महान् परीक्षक आचार्य समन्तभद्रको यह बात उचित प्रतीत नहीं हुई। क्योंकि इससे साधारण जनता आप्तके असली गुणोंको भूलकर बाह्य विभूति और चमत्कारोंको ही आप्तत्वका चिह्न समझने लगी थी। इसी कारण उन्होंने 'आप्तमीमांसा' नामक ग्रन्थकी रचना की, जिसमें यह सिद्ध किया कि देवोंका आगमन, आकाशमें गमन आदिके द्वारा किसीको आप्त नहीं माना जा सकता। आप्तकी परीक्षा करनेवाले समन्तभद्राचार्यमें आप्तविषयक श्रद्धा और गुणज्ञता ये दो गुण स्वयंसिद्ध प्रतीत होते है। क्योंकि इन गुणोंके अभावमें वे आप्तकी परीक्षा करनेमें प्रवृत्त नहीं हो सकते थे।

भगवान् आप्त स्वामी समन्तभद्राचार्यसे पूछते हैं कि मैं देवागम आदि विभूतियोंके कारण क्यों स्तुत्य नहीं हूँ ?

इसके उत्तरमें वे कहते हैं—

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

हे भगवन् ! देवोंका आगमन आदि, आकाशमें गमन आदि और चामर आदि विभूतियाँ आपमें पायी जाती हैं, इस कारण आप हमारे स्तुति करने योग्य नहीं हो सकते हैं। क्योंकि ये विभूतियाँ तो मायावी पुरुषोंमें भी देखी जाती हैं।

संसारमें दो प्रकारके पुरुष दृष्टिगोचर होते हैं—आज्ञाप्रधान और परीक्षाप्रधान। उनमेंसे जो आज्ञाप्रधान पुरुष हैं वे देवागमन आदिको आप्तके महत्त्वका सूचक मान सकते हैं। किन्तु समन्तभद्र सरीखे परीक्षाप्रधान पुरुष देवागमन आदिको आप्तके महत्त्वका सूचक कदापि नहीं मान सकते। क्योंकि देवागमन आदि विभूतियाँ मायावी मस्करी आदि पुरुषोंमें भी पायी जाती हैं। इन्द्रजालवाले पुरुष भी अपनी मायाके द्वारा देवागमन आदि विभूतियोंका प्रदर्शन करते हैं। अतः यदि देवागमनआदि चिह्नोंके द्वारा आप्तको स्तुत्य मानें तो मायावी मस्करी आदिको भी स्तुत्य मानना चाहिये। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि देवागम, नभोयान आदि चिह्नोंके द्वारा आप्तको स्तुत्य मानना आगमके आश्रित है। तथा इस स्तवनका हेतु देवागमन आदि विभूति भी आगमाश्रित है। क्योंकि हमने

हादि महोदयके द्वारा स्तुत्य नहीं हूँ तो मोक्षमार्गरूप धर्मतीर्थका प्रवर्तन करनेके कारण मुझे स्तुत्य मान लीजिए।

इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं—

तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः ।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥

कपिल, सुगत आदि तीर्थङ्करोंके आगमोंमें परस्पर विरोध पाये जाने-कारणके सब तीर्थङ्करोंमें आप्तत्व संभव नहीं है। अतः उनमेंसे कोई एक ही हमारा स्तुत्य हो सकता है।

हम धर्मरूपी तीर्थको करने या चलानेके कारण भी आप्तको स्तुत्य नहीं मान सकते। जिस प्रकार 'जिन'ने तीर्थको प्रचलित किया है उसी प्रकार 'सुगत' आदिने भी आगमरूप तीर्थको प्रचलित किया है। जिस प्रकार 'जिन'में तीर्थकर व्यपदेश होता है उसी प्रकार सुगत, कपिल आदिमें भी तीर्थकर व्यपदेश होता है। अतः यदि तीर्थको करनेके कारण 'जिन'को स्तुत्य मानें तो सुगत आदिको भी स्तुत्य मानना चाहिए।

यहाँ कोई कह सकता है कि जितने तीर्थको करनेवाले हैं उन सबको महान् मान लेनेमें क्या हानि है? इसका उत्तर यह है कि सब सर्वदर्शी या सर्वज्ञ नहीं हो सकते हैं, क्योंकि उन्होंने परस्पर विरुद्ध बातोंका कथन किया है। तीर्थको करनेवालोंके जो समय या आगम हैं उनमें परस्परमें विरोध पाया जाता है।

कुमारिलने कहा भी है—

सुगतो यदि सर्वज्ञो कपिलो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ॥

सुगत यदि सर्वज्ञ है तो कपिलके सर्वज्ञ न होनेमें क्या प्रमाण है। और यदि दोनों ही सर्वज्ञ हैं तो फिर उन दोनोंमें मतभेद क्यों है।

अतः सबमें आप्तपना संभव नहीं है। यही कारण है कि उनमेंसे कोई भी महान् या स्तुत्य नहीं हो सकता है।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और बौद्ध ये दर्शन सर्वज्ञ या ईश्वरको मानते हैं। मीमांसा आदि कुछ दर्शन ऐसे भी हैं जो ईश्वरको नहीं मानते हैं।

अब हम पहले सर्वज्ञको माननेवाले दर्शनोंका संक्षेपमें वर्णन करेंगे।

समानधर्मोंकी उपलब्धि होनेसे, यथा—

स्थाणु और पुरुपके समान धर्म ऊँचाई, स्थूलता आदिको देखनेवाला पुरुप जब उनके विशेप धर्मका निश्चय नहीं कर पाता है तब वहाँ संशय होता है।

अनेकके धर्मकी उपलब्धि होनेसे—

यहाँ अनेकका तात्पर्य समान जातीय और असमान जातीय पदार्थसे है। यथा—रूपादि अन्य गुण शब्दके समान जातीय हैं। तथा द्रव्य और कर्म शब्दके असमान जातीय हैं। अतः रूपादि गुण, द्रव्य और कर्म अनेक हैं। यहाँ धर्मसे तात्पर्य व्यावर्तक धर्मसे है। शब्दमें जो विभागजन्यत्व धर्म है वह अनेकका व्यावर्तक धर्म है। क्योंकि वह शब्दको रूपादि गुणोंसे तथा द्रव्य और कर्मसे पृथक् करता है। शब्द विभागजन्य होता है। शब्दकी यह ऐसी विशेपता है जो उसे अन्य गुणोंसे पृथक् करती है तथा द्रव्य और कर्मसे भी पृथक् करती है। शब्दको छोड़कर अन्य किसी गुणमें विभागजन्यता नहीं पायी जाती है। इसी प्रकार द्रव्य और कर्ममें भी विभागजन्यता नहीं पायी जाती है। अतः शब्दमें विभाग-जन्यताके कारण यह संशय होता है कि वह द्रव्य, गुण और कर्ममेंसे क्या है।

किसी विपयमें विवाद होनेसे, यथा—

कोई कहता है, 'आत्मा है'। दूसरा कहता है, 'आत्मा नहीं है'। यहाँ आत्माके विपयमें विवाद होनेसे संशय होता है।

उपलब्धिकी व्यवस्था न होनेसे, यथा—

विद्यमान पदार्थकी उपलब्धि देखी जाती है जैसे तालाव आदिमें जल-की, और अविद्यमान पदार्थकी भी उपलब्धि देखी जाती है जैसे मरी-चिकामें जलकी। अतः उपलब्धिकी व्यवस्था न होनेसे उपलब्ध पदार्थोंके विपयमें संशय होता है।

अनुपलब्धिकी व्यवस्था न होनेसे, यथा—

विद्यमान पदार्थकी अनुपलब्धि देखी जाती है, जैसे पृथिवीके नीचे जल आदिकी। और अविद्यमान पदार्थकी भी अनुपलब्धि देखी जाती है, जैसे गगनकुसुमकी। अतः अनुपलब्धिकी व्यवस्था न होनेसे अनुपलब्ध पदार्थोंके विपयमें संशय होता है।

प्रयोजन—जिस अर्थके उद्देश्यसे कोई किसी कार्यमें प्रवृत्ति करता है

जो विचारविमर्श किया जाता है वह तर्क है[1]।

निर्णय—विचारपूर्वक पक्ष और प्रतिपक्षके द्वारा अर्थका निर्णय करना निर्णय है[2]।

वाद—प्रमाण और तर्कसे जहाँ साधन और दूषण दिखाया जाता है, जो सिद्धान्तसे अविरोधी होता है और जो पाँच अवयवोंसे सहित होता है, ऐसे पक्ष और प्रतिपक्षका स्वीकार करना वाद है[3]।

जल्प—जल्पका लक्षण वादके लक्षणके समान ही है। जल्पमें इतनी विशेषता है कि यहाँ प्रमाण और तर्कके सिवाय छल जाति और निग्रहस्थानोंके द्वारा भी पक्षकी सिद्धि की जाती है और प्रतिपक्षमें दूषण दिखाया जाता है[4]।

वितण्डा—वितण्डामें प्रतिपक्ष नहीं होता है, केवल पक्ष ही होता है। शेष सब बातें जल्पके समान हैं[5]।

हेत्वाभास—हेत्वाभासके पाँच भेद हैं—अनैकान्तिक, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत।

छल—अर्थमें विकल्प उत्पन्न करके किसीके वचनोंका विघात करना छल है[6]। छलके तीन भेद हैं—वाक्छल, सामान्य छल और उपचार छल। सामान्य रूपसे किसी अर्थके कहनेपर वक्ताके अभिप्रायसे भिन्न अर्थकी कल्पना करना वाक्छल है। जैसे किसीने कहा 'नव कम्बलोऽयम्'। कहनेवालेका यह तात्पर्य है कि इस व्यक्तिके पास नूतन कम्बल है। लेकिन सुननेवाला दूसरा व्यक्ति छल द्वारा कहता है कि इसके पास नौ कम्बल कैसे हो सकते हैं? यही वाक्छल है। सम्भव अर्थमें अतिसामान्यके सम्बन्धसे असंभव अर्थकी कल्पना करना सामान्य छल है। जैसे यह ब्राह्मण विद्याचरणसे सम्पन्न है। कहनेवालेका तात्पर्य केवल

---

१. अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः। —न्या० सू० १।१।३०।

२. विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः। —न्या० सू० १।१।४१।

३. प्रमाणतर्कसाधनोपालंभः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः। —न्या० सू० १।२।१।

४. यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालंभो जल्पः। —न्या० सू० १।२।२।

५. स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा। —न्या० सू० १।२।३।

६. वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्। —न्या० सू० १।२।१०।

वह इन्द्रियप्रत्यक्षका विषय है, जैसे घट। ऐसा कहनेपर दूसरा व्यक्ति उसका निग्रह करनेके लिए कहता है कि इन्द्रियप्रत्यक्ष तो सामान्य भी है किन्तु वह नित्य है। अतः शब्द भी नित्य प्राप्त होता है। तब वादी दृष्टान्तभूत घटकी नित्यता स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार दृष्टान्तभूत घटकी नित्यता स्वीकार करनेपर वादीके पक्षकी हानि होनेसे उसके लिए यह विप्रतिपत्तिके कारण निग्रहस्थान होता है। अप्रतिपत्तिका उदाहरण—वादीके अनेक बार किसी विषयके कहनेपर यदि प्रतिवादी उस विषयको नहीं समझ सकनेके कारण चुप रह जाता है तो यह प्रतिवादीके लिए अप्रतिपत्तिके कारण निग्रहस्थान होता है। विप्रतिपत्तिका अर्थ है विपरीत-ज्ञान और अप्रतिपत्तिका अर्थ है अज्ञान। निग्रहस्थानके २२ भेद हैं—प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त और हेत्वाभास। ऊपर जो विप्रतिपत्तिसे निग्रहस्थानका उदाहरण दिया गया है वह प्रतिज्ञाहानिका उदाहरण है।

प्रामाण्यवाद

न्याय मीमांसाके स्वतः प्रामाण्यवादका खंडन करता है और परतः प्रामाण्यवादको स्वीकार करता है। [1]नैयायिकोंका कहना है कि यदि ज्ञानका प्रामाण्य स्वतः गृहीत हो तो यह ज्ञान प्रमाण है या नहीं, इस प्रकारका संशय ज्ञानकी प्रामाणिकताके विषयमें उत्पन्न नहीं हो सकता। प्रमाणकी प्रमाणताका ज्ञान उन्हीं कारणोंसे नहीं होता जिनसे प्रमाणकी उत्पत्ति होती है। किन्तु अर्थक्रिया आदि भिन्न कारणोंसे प्रमाणताका ज्ञान होता है। विपर्यय ज्ञानको नैयायिक अन्यथा-ख्याति कहते हैं। शीपमें जो चाँदीका ज्ञान होता है उसमें इन्द्रिय दोष आदिके कारण चाँदीके गुण शीपमें मालूम पड़ने लगते हैं। यह अन्यथाख्याति है। वात्स्यायनने स्पष्ट लिखा है—[2]तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होती है, पदार्थ ज्योंका त्यों बना रहता है। अतः भ्रम या विपर्यय विषयीमूलक है, विषय-मूलक नहीं।

---

१. प्रमात्वं न स्वतो ग्राह्यं संशयानुपपत्तितः। —कारिकावली का० १३६।

२. तत्वज्ञानेन मिथ्योपलब्धिर्निवर्त्यते नार्थः स्थाणुपुरुषसामान्यलक्षणः। —न्या० भा० ४।२।३५।

जयन्तभट्टने न्यायमञ्जरीमें वेदकी पौरुषेयता सिद्ध करनेके लिए कुछ युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। वेद नित्य नहीं है किन्तु कार्य होनेसे अनित्य है। इस विषयमें मीमांसकोंकी धारणा नितान्त भिन्न है। मीमांसक ईश्वरकी सत्ता ही नहीं मानते। अतः उनके मतसे वेद अनादि, नित्य एवं अपौरुषेय है। शब्दमात्र नित्य है, शब्दकी उत्पत्ति और नाश नहीं होता है।

मुक्ति

दुःखसे अत्यन्त विमोक्षको अपवर्ग कहते हैं[1]। अत्यन्तका अभिप्राय वर्तमान जन्मका परिहार तथा आगामी जन्मके न होनेसे है। दुःखकी आत्यन्तिकी निवृत्तिका उपाय निम्न प्रकार है—तत्त्वज्ञानके उत्पन्न होनेपर मिथ्याज्ञानका नाश हो जाता है और मिथ्याज्ञानके अभावमें क्रमशः दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दुःखका नाश होनेपर अपवर्गकी प्राप्ति होती है।[2] न्याय और वैशेषिक दर्शनमें मुक्तिके विषयमें एक विशेष प्रकारकी कल्पना की गयी है कि मुक्तिमें बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार इन आत्माके नौ विशेष गुणोंका पूर्ण अभाव हो जाता है। वेदान्तदर्शन मुक्तिमें आनन्दकी उपलब्धि मानता है लेकिन न्यायदर्शनके अनुसार वहाँ आनन्दका भी अभाव हो जाता है। श्री हर्षने नैषधचरितमें नैयायिक मुक्तिका जो उपहास किया है वह विद्वानोंके लिए विचारणीय है। श्रीहर्षने[3] बतलाया है कि गौतमने बुद्धिमान् पुरुषोंके लिए ज्ञान, सुखादिसे रहित शिलारूप मुक्तिका उपदेश दिया है। अतः उनका गौतम यह नाम शब्दतः ही यथार्थ नहीं है किन्तु अर्थतः भी यथार्थ है। वह केवल गौ (बैल) न होकर गौतम (अतिशयेन गौः—गौतमः) अर्थात् विशिष्ट बैल हैं। इसी प्रकार वैष्णव दार्शनिकोंने भी वैशेषिक मुक्तिका उपाहास किया है।

किसी वैष्णव दार्शनिकने कहा है कि मुझे शृगाल बनकर वृन्दावनके सरस निकुञ्जोंमें जीवन बिताना स्वीकार है लेकिन मैं सुखरहित वैशेषिक

---

१. तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। —न्या० सू० १।१।२२।

२. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापायेतदनन्तरापायादपवर्गः। —न्या० सू० १।१।२।

३. मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥
—नैषधचरित १७।७५।

परसामान्य और अपरसामान्य। सत्ता परसामान्य है तथा द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व, गोत्व आदि अपरसामान्य हैं। जितनी गायें हैं उन सबमें गोत्व सामान्य रहता है। गायके उत्पन्न होनेपर सामान्य उत्पन्न नहीं होता तथा गायके मर जानेपर सामान्यका नाश नहीं होता। सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थोंमें रहता है।

विशेष—समान पदार्थोंमें भेदकी प्रतीति कराना विशेष पदार्थका काम है। पृथिवीके सब परमाणु समान हैं। फिर भी एक परमाणुसे दूसरा परमाणु भिन्न है, क्योंकि प्रत्येक परमाणुमें पृथक्-पृथक् विशेष पदार्थ रहता है। इससे प्रत्येक परमाणुकी पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। इसी प्रकार सब आत्मायें समान हैं। लेकिन प्रत्येक आत्मामें विशेष पदार्थ रहता है। इसलिए एक आत्मासे दूसरे आत्माकी पृथक् प्रतीति होती है। यही बात मनके विषयमें भी है। इसीलिए विशेष अनन्त माने गए हैं। इनके विषयमें एक विशेष बात यह है कि ये स्वतः व्यावर्तक होते हैं, अर्थात् एक विशेषसे दूसरे विशेषमें भेद स्वतः ही होता है। इसके लिए किसी दूसरे पदार्थकी अपेक्षा नहीं पड़ती। जिस प्रकार एक परमाणुसे दूसरे परमाणुमें भेद करनेके लिए विशेष पदार्थ माना गया है, उसी प्रकार एक विशेषसे दूसरे विशेषमें भेद करनेके लिए किसी अन्य पदार्थकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि एक विशेष स्वयं ही दूसरे विशेषसे भेद कर लेता है। विशेष नित्य द्रव्योंमें रहता है[1]।

समवाय—अयुतसिद्ध पदार्थोंमें जो सम्बन्ध होता है उसका नाम समवाय है।[2] अविनाश अवस्थामें जिन दो पदार्थोंमेंसे एक पदार्थ दूसरे पदार्थके आश्रित ही रहता है वे दोनों अयुतसिद्ध कहलाते हैं। अवयव और अवयवी, जाति और व्यक्ति, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान् तथा

---

१. अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः परिकीर्तितः ॥ —कारिकावली का० १०।

२. अयुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः। ययोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवाव-तिष्ठते तावयुतसिद्धौ।

तावेवायुतसिद्धौ द्वौ विज्ञातव्यौ ययोर्द्वयोः।
अवश्यमेकमपराश्रितमेवावतिष्ठते ॥ —तर्कभाषा पृ० ६।

घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः।
तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः ॥ —कारिकावली का० १२।

अवयवावयविनोः जातिव्यक्त्योः गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्नित्यद्रव्यविशेषयोः यः सम्बन्धः स समवायः।
—मुक्तावली पृ० २३।

परमाणुका स्वरूप निम्न प्रकारसे बतलाया गया है। मकानके छेदसे जब सूर्यकी किरणें प्रवेश करती हैं तब उनमें जो छोटे-छोटे कण दृष्टिगोचर होते हैं वे ही त्रसरेणु हैं और उनका छठवाँ भाग परमाणु कहलाता है¹। परमाणु तथा द्व्यणुकका परिमाण अणु होनेसे उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है। और महत् परिमाण होनेके कारण त्र्यणुकका प्रत्यक्ष होता है।

वैशेषिक ज्ञानमीमांसा

ज्ञान सामान्यरूपसे दो प्रकारका है—विद्या और अविद्या। अविद्याके चार भेद हैं—संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और स्वप्न। विद्याके भी चार भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति और आर्ष। वैशेषिक उपमान तथा शब्दको स्वतंत्र प्रमाण न मानकर अनुमानके अन्तर्गत ही मानते हैं। ऋषियोंको अतीन्द्रिय पदार्थोंका प्रतिभाजन्य जो ज्ञान होता है वह आर्ष कहलाता है। प्रशस्तपादके मतसे स्वप्नके तीन कारण होते हैं—संस्कार-पाटव, धातुदोष और अदृष्ट। कामी या क्रोधी पुरुष जिस विषयका चिन्तन करता हुआ सोता है वह स्वप्नमें उसी विषयको देखता है। वात-प्रकृतिवाला व्यक्ति आकाशमें गमन आदि, पित्तप्रकृतिवाला व्यक्ति अग्नि-प्रवेश आदि और कफप्रकृतिवाला व्यक्ति समुद्र आदिका स्वप्न देखता है। अदृष्टसे भी विचित्र स्वप्नोंका उदय होता है।

ईश्वर

वैशेपिकदर्शनमें ईश्वरकी सत्ता मानी गयी है या नहीं? इस प्रश्नके विषयमें कोई निश्चित मत नहीं है। वैशेपिक सूत्रोंमें केवल दो सूत्र ऐसे हैं जो ईश्वरकी ओर संकेत करते हैं, किन्तु इनकी व्याख्यामें मतभेद है। 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' (वै० सू० १।१।३) में तद् शब्द ईश्वर-का बोधक माना गया है, परन्तु वह धर्मका भी बोधक हो सकता है। इसी प्रकार 'संज्ञा कर्मत्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्' (वै० सू० २।१।१८)में अस्मद्विशिष्ट शब्द ईश्वरके समान योगियोंका भी बोधक माना जा सकता है। अतः वैशेपिक सूत्रमें ईश्वरका स्पष्ट निर्देश न होनेपर भी प्रशस्त-पादसे लेकर अवान्तरकालीन ग्रन्थकार ईश्वरकी सिद्धि एक मतसे स्वीकार करते हैं। वैशेपिकदर्शनके प्रथम सूत्रसे ही ज्ञात होता है कि महर्पि

---

१. जालान्तरगते भानोः यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य पष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते ॥

भी आश्रमका पुरुष, चाहे वह ब्रह्मचारी हो, संन्यासी हो या गृहस्थ हो, दुःखोंसे मुक्ति प्राप्त कर लेता है[1]। इन २५ तत्त्वोंका वर्गीकरण मूलमें चार प्रकारसे किया गया है[2]। १. प्रकृति, २. विकृति, ३. प्रकृति-विकृति और ४. न प्रकृति-न विकृति। कोई तत्त्व ऐसा है जो सबका कारण तो होता है, परन्तु स्वयं किसीका कार्य नहीं होता, इसे प्रकृति कहते हैं। कुछ तत्त्व किसीसे उत्पन्न तो होते हैं, किन्तु स्वयं किसी अन्य तत्त्वको उत्पन्न नहीं करते, इन्हें विकृति कहते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय (चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक् तथा श्रोत्र) पाँच कर्मेन्द्रिय (वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ) पाँच महाभूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश) और मन ये १६ तत्त्व विकृति कहलाते हैं। कुछ तत्त्व किन्हीं तत्त्वोंसे उत्पन्न होते हैं और अन्य तत्त्वोंको उत्पन्न भी करते हैं, इन्हें प्रकृति-विकृति कहते हैं। महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) ये सात तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनों कहलाते हैं। एक पुरुष तत्त्व ऐसा है जो न किसीसे उत्पन्न होता है और न किसीको उत्पन्न करता है। इसकी गणना न प्रकृति-न विकृति वर्गमें की गई है। मूलमें दो ही तत्त्व हैं—प्रकृति और पुरुष।

प्रकृति

प्रकृति त्रिगुणात्मक, जड़ तथा एक है। यही स्थूल तथा सूक्ष्म जगत्की उत्पादिका है। प्रकृतिमें सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण पाये जाते हैं। इन्हीं तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम प्रकृति है। प्रकृतिका दूसरा नाम प्रधान भी है। प्रकृतिसे २३ तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है। उनकी उत्पत्तिका क्रम इस प्रकार है[3]—

प्रकृतिसे महत् तत्त्वकी उत्पत्ति होती है। महत्का दूसरा नाम बुद्धि है। सांख्यदर्शनकी यह विशेषता है कि बुद्धि चेतन पुरुषका गुण न होकर अचेतन प्रकृतिका कार्य है। महत् तत्त्वसे अहंकारकी उत्पत्ति होती है। अहंकारसे जिन १६ तत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है, वे निम्न प्रकार हैं—स्प-

१. पञ्चविंशति तत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसेत्।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥ —स० सि० सं० ९।११।

२. मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्यः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिः न विकृतिः पुरुषः॥ —सांख्यका० ३।

३. प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥ —सांख्यका० २२।

है। सांख्यका कहना है कि कार्य उत्पत्तिके पहले भी कारणमें अव्यक्तरूप-से विद्यमान रहता है। तेल तिलोंमें और दधि दूधमें विद्यमान रहता है। तभी तो तिलोंसे तेलकी और दूधसे दधिकी उत्पत्ति देखी जाती है। सत्कार्यवादको सिद्ध करनेके लिए निम्न युक्तियाँ दी गयी हैं।[1]

१. असत् वस्तुकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। यदि कार्य उत्पत्तिसे पहले कारणमें न रहता तो असत् पदार्थ 'आकाशकमल'की भी उत्पत्ति होनी चाहिए। २. कार्यकी उत्पत्तिके लिए उपादानका ग्रहण किया जाता है, जैसे तेलकी उत्पत्तिके लिए तिलोंका ही ग्रहण किया जाता है बालु-का नहीं। यदि कार्य कारणमें सत् न होता तो कोई भी कार्य किसी भी कारणसे उत्पन्न हो जाता। ३. सब कारणोंसे सब कार्योंकी उत्पत्ति संभव नहीं है। अतः प्रतिनियत कारणसे प्रतिनियत कार्यकी ही उत्पत्ति होनेसे कार्य सत् है। ४. समर्थ करणसे ही कार्यकी उत्पत्ति देखी जाती है, असमर्थसे नहीं। ५. यह भी देखा जाता है कि कारण जैसा होता है कार्य भी वैसा ही होता है। कारण और कार्यमें ऐक्य है। गेहूँसे गेहूँकी ही उत्पत्ति होती है, चनाकी नहीं। अतः उपर्युक्त कारणोंसे यह सिद्ध होता है कि वस्त्र उत्पन्न होनेके पहले तन्तुओंमें विद्यमान रहता है और घट उत्पन्न होनेके पहले मिट्टीमें विद्यमान रहता है। यही सत्कार्यवाद है।

सृष्टिक्रम

प्रकृति और पुरुषके संयोगसे ही जगत्की सृष्टि होती है[2]। प्रकृति जड़ है और पुरुष निष्क्रिय। अतः पृथक्-पृथक् दोनोंसे जगत्की सृष्टि होना संभव नहीं है। सृष्टिके लिए दोनोंका संयोग आवश्यक है। जिस प्रकार एक अन्धा और एक लंगड़ा पुरुष पृथक्-पृथक् रहें तो किसीका कार्य सिद्ध नहीं हो सकता और दोनोंका संयोग हो जानेपर उनके कार्यकी सिद्धि सरलतापूर्वक हो जाती है। उसी प्रकार प्रकृति अचेतन होनेसे अन्धी है और पुरुष निष्क्रिय होनेसे लंगड़ा है। अतः सृष्टिके लिए दोनों-का संयोग परमावश्यक है। पुरुषकी सन्निधिमात्रसे प्रकृति कार्य करने-में प्रवृत्त हो जाती है।

---

१. असदकारणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्। —सांख्यका० ९।

२. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ —सांख्यका० २१।

बुद्ध युक्तिवादी और व्यावहारिक थे। यही कारण है कि अध्यात्म शास्त्रकी गुत्थियोंकी शुष्क तर्ककी सहायतासे सुलझाना बुद्धका उद्देश्य नहीं था। बुद्धने भवरोगके रोगी प्राणियोंके लिए उन वातोंको वतलाना आवश्यक समझा जिनसे उनको तात्कालिक लाभ हो। यह जगत् नित्य है या अनित्य ? यह लोक सान्त है या अनन्त ? जीव तथा शरीर अभिन्न हैं या भिन्न ? इत्यादि प्रश्न किए जाने पर बौद्ध मौनालम्वन ही श्रेयस्कर समझते थे। ऐसे प्रश्नोंको उन्होंने अव्याकृत (उत्तरके अयोग्य वतलाया है।

भवरोगके रोगियोंकी चिकित्सा करना पहली आवश्यकता है। इस विषयमें उन्होंने एक सुन्दर दृष्टान्त दिया है। कोई व्यक्ति वाणसे आहत होकर व्याकुल हो रहा है। उस समय आपका कर्तव्य यह है कि तुरन्त उसे चिकित्सकके पास ले जाकर उसकी चिकित्सा करावें। यदि आप ऐसा न करके यह वाण किस दिशासे आया है, कितना वड़ा है, इसको मारने वाला क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र है' इत्यादि व्यर्थकी वातोंमें पड़ते हैं तो आप बुद्धिवादी और व्यावहारिक नहीं कहे जा सकते। इसीलिए बुद्धने व्यावहारोपयोगी वातोंका ही उपदेश दिया।

आर्यसत्य

जिस प्रकार चिकित्साशास्त्रमें रोग, रोगका कारण, रोगका नाश तथा रोगनाशक औषधि ये चार वातें वतलायी जाती हैं, उसी प्रकार दर्शन शास्त्रमें संसार (दुःख), संसारहेतु (दुःखका कारण), मोक्ष (दुःखका नाश) तथा मोक्षका उपाय ये चार सत्य माने गये हैं[1]।

बुद्धने दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्यसत्योंको खोज निकाला। वैद्यकशास्त्रकी इस समताके कारण बुद्धको महाभिषक् (वैद्यराज) भी कहा गया है। इन सत्योंको आर्य सत्य कहनेका तात्पर्य यह है कि आर्यजन (विद्वज्जन) ही इन सत्योंको प्राप्त कर सकते हैं। इतरजन इन सत्योंको प्राप्त करनेमें असमर्थ ही रहते हैं। आर्य जन आँखके समान हैं और अन्यजन करतल (हथेली) के समान हैं। जिस प्रकार ऊनका डोरा हथेली पर रखनेसे किसी प्रकारकी पीड़ाको उत्पन्न नहीं करता है किन्तु

१. यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं—रोगो रोगहेतुः आरोग्यं भैषज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्रं तद् यथा संसारः संसारहेतुः मोक्षो मोक्षोपाय इति।
—व्यासभाष्य २।१५।

सक उपायोंसे आजीविकाका उपार्जन करना ही सम्यक् आजीव है।

सम्यक् व्यायाम—यहाँ व्यायामका अर्थ प्रयत्न या उद्योग है। शुभ कर्मोंके करनेका प्रयत्न, अनिष्ट रोकनेका प्रयत्न, बुरी भावनाओंको रोकने-का प्रयत्न, अच्छी भावनाओंके उत्पन्न करनेका प्रयत्न, इत्यादि सम्यक् व्यायाम है।

सम्यक् स्मृति—काय, वेदना, चित्त तथा धर्मोंके वास्तविक स्वरूपको जानना तथा उनकी स्मृति सदा बनाये रखना सम्यक् स्मृति है। सम्यक् समाधिके लिए सम्यक् स्मृति अत्यावश्यक है।

सम्यक् समाधि—राग, द्वेष आदिका अभाव हो जाने पर चित्तकी एकाग्रताका नाम सम्यक् समाधि है। समाधिके द्वारा चित्तशुद्धि होती है और शील (सात्त्विक कार्य)से शरीर शुद्धि होती है। ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए कायशुद्धि और चित्तशुद्धि आवश्यक है।

यह अष्टांग मार्ग है। इस मार्ग पर चलनेसे प्रत्येक व्यक्ति अपने दुःखोंका नाश करके निर्वाण प्राप्त कर लेता है। इसीलिए यह अन्य समस्त मार्गोंमें श्रेष्ठ माना गया है।

प्रतीत्य समुत्पाद

प्रतीत्य समुत्पाद बौद्धदर्शनका एक विशेष सिद्धान्त है। प्रतीत्य समु-त्पादका अर्थ है 'सापेक्षकारणतावाद' अर्थात् किसी वस्तुकी प्राप्ति होने पर अन्य वस्तुकी उत्पत्ति। इस प्रतीत्य समुत्पादके १. अविद्या २. संस्कार ३. विज्ञान ४. नामरूप ५. षडायतन ६. स्पर्श ७. वेदना ८. तृष्णा ९. उपादान १०. भव ११. जाति और १२. जरामरण ये बारह अङ्ग हैं, जो तीन काण्डोंमें विभक्त हैं[1]। इन अङ्गोंको निदान भी कहते हैं। प्रतीत्य-समुत्पादका नाम भवचक्र भी है। क्योंकि इसीके कारण संसारका चक्र चलता रहता है। बारह अङ्गोंमेंसे प्रथम दो का सम्बन्ध अतीत जन्मसे है तथा अन्तिम दोका सम्बन्ध भविष्यत् जन्मसे है। शेष आठका सम्बन्ध वर्तमान जीवनसे है। संसारका प्रधान कारण अविद्या है। अविद्यासे संस्कारकी उत्पत्ति होती है। संस्कारसे विज्ञान, विज्ञानसे नामरूप, नाम-रूपसे षडायतन, षडायतनसे स्पर्श, स्पर्शसे वेदना, वेदनासे तृष्णा, तृष्णासे उपादान, उपादानसे भव, भवसे जाति और जातिसे जरामरणकी उत्पत्ति होती है। इसप्रकार संसारका चक्र चलता रहता है।

१. स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशांगस्त्रिकाण्डकः।
पूर्वापरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरणाः॥ —अभि० को० ३।२०।

सत् वह है जो अर्थक्रिया (कुछ काम) करे[1]। अब यह देखना है कि अर्थक्रिया नित्य पदार्थमें हो सकती है या नहीं। बौद्धदर्शनका कहना है कि नित्य वस्तुमें अर्थक्रिया हो ही नहीं सकती। क्योंकि नित्य वस्तु न तो युगपत् (एक साथ) अर्थक्रिया कर सकती है और न क्रमसे। नित्य वस्तु यदि युगपत् अर्थक्रिया करती है तो संसारके समस्त पदार्थोंको एक साथ एक समयमें ही उत्पन्न हो जाना चाहिए, और ऐसा होनेपर आगेके समयमें नित्य वस्तुको कुछ भी काम करनेको शेष नहीं रहेगा। अतः वह अर्थक्रियाके अभावमें अवस्तु हो जायगी। इसप्रकार नित्यमें युगपत् अर्थक्रिया नहीं बनती है। नित्य वस्तु क्रमसे भी अर्थ क्रिया नहीं कर सकती। नित्य वस्तु यदि सहकारी कारणोंकी सहायतासे क्रमसे कार्य करती है, तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सहकारी कारण उसमें कुछ विशेषता (अतिशय) उत्पन्न करते हैं या नहीं? यदि सहकारी कारण नित्यमें कुछ विशेषता उत्पन्न करते हैं तो वह नित्य नहीं रह सकती। और यदि सहकारी कारण नित्यमें कुछ भी विशेषता उत्पन्न नहीं करते हैं तो सहकारीकारणों के मिलने पर भी वह पहलेकी तरह कार्य नहीं कर सकेगी। दूसरी बात यह भी है कि नित्य स्वयं समर्थ है। अतः उसे सहकारी कारणोंकी कोई अपेक्षा भी नहीं होगी। फिर क्यों न वह एक समयमें ही सब काम कर देगी। इसप्रकार नित्य पदार्थमें न तो युगपत् अर्थक्रिया हो सकती है और न क्रमसे। अर्थक्रियाके अभावमें वह सत् भी नही कहला सकता। इसलिए जो सत् है वह नियमसे क्षणिक है। क्षणिक ही अर्थक्रिया कर सकता है। यही क्षणभंगवाद है। क्षणभंगके कारण ही बौद्धदर्शन विनाशको निर्हेतुक मानता है। प्रत्येक क्षणमें विनाश स्वयं होता है, किसी दूसरेके द्वारा नहीं[2]। घटका जो विनाश दण्डके द्वारा होता हुआ देखा जाता है वह घटका विनाश नहीं, किन्तु कपालकी उत्पत्ति है।

अन्यापोहवाद

जब कि अन्य सब दर्शन शब्दको अर्थका वाचक मानते हैं तब इस विषयमें बौद्धदर्शनकी कल्पना नितान्त भिन्न है। बौद्धदर्शनके अनुसार शब्द

१, अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुनः। —न्यायविन्दु पृ० १७।

२. तस्मादनश्वरत्वे कदाचिदपि नाशायोगात्, दृष्टत्वाच्च नाशस्य, नश्वरमेव तद्वस्तु स्वहेतोरुपजातमङ्गीकर्तव्यम्। तस्मादुत्पन्नमात्रमेव विनश्यति उत्पत्तिक्षण एव सत्त्वात्। —तर्कभाषा पृ० १९

करने वाला हो[1]। प्रमाणका लक्षण अविसंवादिता[2] भी माना गया है। ज्ञानमें तथा वस्तुमें किसी प्रकारका विसंवाद नहीं होना चाहिए। प्रमाणको अविसंवादी होना आवश्यक है। अर्थात् ज्ञानने जिस वस्तुको जाना है उसको वही होना चाहिए, दूसरी नहीं। यदि ज्ञानने चाँदीको जाना है तो उसे चाँदी ही होना चाहिए, और नहीं। इसीका नाम अविसंवादिता है। ज्ञानकी सम्यक्ता भी यही है।

बौद्धदर्शनमें प्रमाण दो माने गए हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। जो ज्ञान कल्पनासे रहित और भ्रमसे रहित हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं[3]। प्रत्यक्ष कल्पनासे रहित है इस बातकी सिद्धि प्रत्यक्षसे ही होती है[4]। नाम, जाति गुण, क्रिया और द्रव्यसे किसीको युक्त करना कल्पना है[5]। शब्दसे सम्बन्ध रखनेवाला या शब्दसे सम्बन्धकी योग्यता रखने वाला जितना ज्ञान है वह सब कल्पना ज्ञान है[6]। पहले और बादकी दो अवस्थाओंमें एकत्वका ज्ञान करनेवाली प्रतीति चाहे शब्दसे संयुक्त हो या अन्तर्जल्पाकार हो, कल्पना है[7]। प्रत्यक्षको कल्पनासे रहित होना आवश्यक है। इसीप्रकार उसे भ्रमसे भी रहित होना चाहिए। प्रत्यक्षके चार भेद हैं—इन्द्रिय प्रत्यक्ष मानसप्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष।

व्याप्तिज्ञानसे सम्बन्धित किसी धर्मके ज्ञानसे धर्मीके विषयमें जो परोक्ष ज्ञान होता है वह अनुमान है[8]। धूमदर्शनसे पर्वतमें वह्निका जो

---

१. प्रमाणं सम्यग्ज्ञानमपूर्वगोचरम् —तर्कभाषा पृ० १।

२. अविसंवादकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम् —न्यायबिन्दु पृ० ४।
प्रमाणमविसंवादिज्ञानमर्थक्रियास्थितिः।
अविसंवादनम् —प्रमाणवार्तिक २।१।

३. तत्र कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम् —न्यायबिन्दु पृ० ८
प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम् —प्रमाणसमुच्चय।

४. प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्धयति।
प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः॥ —प्रमाणवा० ३।१।

५. नामजात्यादियोजना कल्पना। —प्रमाणस०।

६. अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना। —न्या० बि० पृ० १०।

७. पूर्वापरमनुसन्धाय शब्दसंयुक्ताकारा अन्तर्जल्पाकारा वा प्रतीतिः कल्पना।
—तर्कभाषा पृ० ७।

८, या च सम्बन्धिनो धर्माद् भूतिर्धर्मिणि जायते।
सानुमानं परोक्षाणामेकान्तेनैव साधनम्॥ प्रमाणवा० ३।६२।

और आकारसे नियत वस्तुका जो असाधारण या विशेष स्वरूप है वही स्वलक्षण है[१]। वस्तुमें दो प्रकारका तत्त्व होता है—असाधारण और सामान्य। उनमेंसे जो असाधारण तत्त्व है वही स्वलक्षण है[२]। स्वलक्षणको अन्य प्रकारसे भी समझाया गया है। जिस पदार्थके सन्निधान (निकटता) और असन्निधान (दूरता)के द्वारा ज्ञानमें प्रतिभास भेद होता है, वह स्वलक्षण है[३]। अर्थात् जो निकट होनेके कारण ज्ञानमें स्पष्ट प्रतिभासको करता है और दूर होनेके कारण अस्पष्ट प्रतिभासको करता है वह स्वलक्षण है।

स्वलक्षणके प्रकरणमें यह जान लेना भी आवश्यक है कि प्रत्येक परमाणु सजातीय और विजातीयसे व्यावृत्त है, प्रत्येक परमाणुकी सत्ता पृथक् एवं स्वतंत्र है। एक परमाणुका सम्बन्ध दूसरे परमाणुके साथ नहीं हो सकता। एक परमाणुका सम्बन्ध दूसरे परमाणुके साथ यदि एक देशसे होता है तो परमाणुमें अंश मानना पड़ेंगे, किन्तु परमाणु निरंश होता है। और यदि सर्वदेशसे सम्बन्ध माना जाय तो दश परमाणुओंका पिण्ड भी अणुमात्र ही कहलायगा[४]। इसप्रकार परमाणुओंमें सम्बन्धके अभावमें अवयवीका सद्भाव भी सिद्ध नहीं होता है। नैयायिकोंके द्वारा माने गये अवयवीका बौद्धोंने निराकरण किया है। अवयवोंसे भिन्न कोई अवयवी नहीं है। अवयवोंके समूहका नाम ही अवयवी है[५]। सब परमाणु अत्यन्त सन्निकट हैं, उनमें कोई अन्तराल नहीं है। अतः सम्बन्धरहित परमाणुओंमें भी समुदायकी प्रतीति होने लगती है।

---

१. स्वलक्षमित्यसाधारणं वस्तुरूपं देशकालाकारनियतम्। एतेनैतदुक्तं भवति—घटादिरुदकाहरणसमर्थोऽर्थो देशकालाकारनियतः पुरः प्रकाशमानोऽनित्यत्वाद्यनेकधर्मोदासीनः प्रवृत्तिविषयो विजातीयसजातीयव्यावृत्तः स्वलक्षणम्।
—तर्कभाषा पृ० ११।

२. स्वमसाधारणं लक्षणं तत्त्वं स्वलक्षणम्। वस्तुनो ह्यसाधारणं च तत्त्वमस्ति सामान्यं च
—न्या० वि० टीका पृ० १५।

३. यस्यार्थस्य सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत् स्वलक्षणम्।
—न्या० वि० पृ० १६।

४. षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता।
षण्णां समानदेशत्वे पिण्डः स्यादणुमात्रकः॥

५. भागा एव हि भासन्ते सन्निविष्टास्तथा तथा।
तद्वान्नैव पुनः कश्चिन्निर्भागः सम्प्रतीयते॥

प्रामाणिक मानते थे। इनके अनुसार तथागतके आध्यात्मिक उपदेश 'सुत्त-पिटक' के कुछ सूत्रों (सूत्रान्तों) में सन्निविष्ट हैं। ये 'अभिधर्म पिटक' को बुद्धवचन न होनेसे प्रमाण नहीं मानते। यशोमित्रने 'अभिधर्मकोश' की टीकामें इस नामकरणकी पुष्टि की है[1]। आचार्य कुमारलात इस मतके प्रतिष्ठापक हैं।

योगाचार

योगाचार मतके अनुसार बाह्य पदार्थकी सत्ता ही नहीं है। केवल अन्तरङ्ग पदार्थ (विज्ञान) की ही सत्ता है। इसी कारण इस मतका दूसरा नाम विज्ञानवाद भी है। आचार्य असंग द्वारा रचित 'योगाचार भूमिशास्त्र' नामक ग्रन्थमें योगाचारके सिद्धान्तोंका वर्णन है। इस मतके योगाचार नाम पड़नेका कारण यही ग्रन्थ है। हम देख चुके हैं कि सौत्रांतिक बाह्य पदार्थको प्रत्यक्ष न मानकर अनुमेय मानता है। योगाचार सौत्रांतिकसे भी एक कदम आगे बढ़कर कहता है कि जब बाह्य अर्थका प्रत्यक्ष ही नहीं होता है, तो उसे माननेकी भी क्या आवश्यकता है। जब बाह्यार्थकी सत्ता ज्ञान पर अवलम्बित है तो ज्ञानकी ही वास्तविक सत्ता है, बाह्यार्थ तो निःस्वभाव तथा स्वप्नके समान हैं। विज्ञानको चित्त, मन तथा विज्ञप्ति भी कहते हैं। वसुबन्धुने 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' में विज्ञानवादका सुन्दर विवेचन किया है। चित्तको छोड़कर अन्य कोई पदार्थ सत् नहीं है। यद्यपि बाह्य पदार्थकी सत्ता नहीं है, फिर भी अनादिकालसे चली आ रही वासनाके कारण विज्ञानका बाह्यार्थरूपसे प्रतिभास होता है। जैसे भ्रान्तिके कारण एक चन्द्रमामें दो चन्द्रमाओंका प्रतिभास हो जाता है, उसी प्रकार वासनाके कारण विज्ञानमें बाह्यार्थकी प्रतीति होने लगती है। बाह्य पदार्थोंकी उपलब्धि ठीक उसी प्रकारकी है जिस प्रकार स्वप्नमें प्राणी नाना प्रकारके पदार्थोंका अनुभव करता है। इस जगत्में बाह्य दृश्य पदार्थकी सत्ता नहीं है, किन्तु एकरूप चित्त ही विचित्र (नाना) रूपोंमें दिखलाई पड़ता है। कभी वह देहके रूपमें और कभी भोगके रूपमें मालूम पड़ता है[2]। चित्तकी ही ग्राह्य और ग्राहकरूपसे प्रतीति होती

१. कः सौत्रान्तिकार्थः ? ये सूत्रप्रामाणिका न तु शास्त्रप्रामाणिकास्ते सौत्रान्तिकाः। —स्फुटार्था० पृ० १२

२. दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम्॥ —लंकावतारसूत्र ३।३३

माध्यमिक

इस मतके संस्थापक आचार्य नागार्जुन हैं। इनके द्वारा रचित 'माध्यमिक कारिका' माध्यमिक सिद्धान्तोंके प्रतिपादनके लिए प्रसिद्ध ग्रन्थ है। बुद्धके द्वारा प्रतिपादित मध्यममार्गके अनुयायी होनेके कारण इस मतका नाम माध्यमिक पड़ा है। तथा शून्यको परमार्थ माननेके कारण यह शून्यवाद भी कहा जाता है। माध्यमिकोंके अनुसार विज्ञानकी भी सत्ता नहीं है। इन्होंने योगाचारसे भी एक कदम आगे बढ़कर कहा कि जब अर्थ नहीं है तो ज्ञानको माननेकी भी क्या आवश्यकता है। इनके अनुसार शून्य ही परमार्थ सत्य है।

शून्यका वास्तविक स्वरूप क्या है इस विषयमें विद्वानोंमें पर्याप्त मत-भेद है। कई दार्शनिकोंने शून्यका अर्थ सत्ताका निषेध या अभाव किया है। किन्तु माध्यमिक आचार्योंके ग्रन्थोंके अवलोकनसे शून्यका कुछ दूसरा ही अर्थ निकलता है। यहाँ शून्यका वास्तविक तात्पर्य तत्त्वकी अवाच्यतासे है। किसी भी पदार्थके स्वरूप निर्णयके लिए मुख्यरूपसे चार कोटियोंका प्रयोग किया जा सकता है—अस्ति, नास्ति, उभय और अनुभय। परमार्थ तत्त्वका इन चार प्रकारकी कोटियों द्वारा वर्णन या कथन नहीं किया जा सकता है। अतः परमार्थ तत्त्व चार कोटियोंसे रहित अर्थात् अवाच्य है[1]।

आचार्य नागार्जुनके अनुसार तत्त्वका लक्षण निम्न प्रकार है—

तत्त्व अपरप्रत्यय है अर्थात् एकके द्वारा दूसरेको इसका उपदेश नहीं दिया जा सकता। शान्त है अर्थात् स्वभावरहित है। इसका प्रतिपादन किसी भी शब्दके द्वारा नहीं किया जा सकता है अर्थात् तत्त्व अशब्द है। यह निर्विकल्पक है अर्थात् चित्त इस तत्त्वको नहीं जान सकता। तथा अनानार्थ अर्थात् नाना अर्थोंसे रहित है[2]।

आचार्य नागार्जुनने 'विग्रहव्यावर्तिनी'में प्रतीत्य समुत्पादको ही शून्यता कहा है[3]। संसारके समस्त पदार्थ हेतु-प्रत्ययसे उत्पन्न होते हैं, अतः उनका

---

१. न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥ —माध्यमिक कारिका १।७

२. अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्त्वस्य लक्षणम्॥ —माध्यमिक कारिका १८।९।

३. यश्च प्रतीत्य भावो भावानां शून्यतेति सा ह्युक्ता।
प्रतीत्य यश्च भावो भवति हि तस्यास्वभावत्वम्॥ —विग्रहव्यावर्तिनी २२।

१. बोधिसत्वकी कल्पना—हीनयानके अनुसार अर्हत्पदकी प्राप्ति ही भिक्षुका चरम लक्ष्य है। महायानके अनुसार बोधिसत्व महामैत्री और महा करुणासे युक्त होता है। अतः उसका लक्ष्य संसारके प्रत्येक प्राणीको क्लेशोंसे मुक्त कराना है।

२. त्रिकायकी कल्पना—महायान बुद्धके तीन काय—धर्मकाय, संभोगकाय और निर्माणकाय—को मानता है। किन्तु हीनयान बुद्धके निर्माणकाय और धर्मकायको ही मानता है।

३ दशभूमिकी कल्पना—हीनयानके अनुसार अर्हत्पदकी प्राप्ति तक केवल चार भूमियाँ हैं—स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्। परन्तु महायानके अनुसार निर्वाणकी प्राप्ति तक मुदिता आदि दश भूमियाँ होती हैं।

४. निर्वाणकी कल्पना—हीनयानके अनुसार निर्वाणमें क्लेशावरणका ही नाश होता है। किन्तु महायानके अनुसार निर्वाणमें ज्ञेयावरणका भी नाश हो जाता है। एक दुःखाभावरूप है तो दूसरा आनन्दरूप।

५. भक्तिकी कल्पना—हीनयान ज्ञानप्रधान है, किन्तु महायान भक्ति प्रधान है। अतः महायानके समयमें बुद्धकी मूर्तियोंका निर्माण होने लगा था।

महायानका प्रचार भारतके उत्तरी प्रदेशों—तिब्बत, चीन, कोरिया, मंगोलिया, जापान आदिमें हैं। भारतके दक्षिण तथा पूरबके प्रदेशों—सिंघल बरमा, स्याम, जावा आदिमें हीनयानका प्रचार है।

निर्वाण

बौद्धदर्शनके अनुसार निर्वाण निरोधरूप है। तृष्णादिक क्लेशोंका निरोध हो जाना ही निर्वाण है। भदन्त नागसेनने मिलिन्द प्रश्नमें बतलाया है कि निर्वाणके बाद व्यक्तित्वका सर्वथा अभाव हो जाता है। जिस प्रकार जलती हुई आगकी लपट बुझ जाने पर दिखलाई नहीं जा सकती उसी प्रकार निर्वाण प्राप्त हो जानेके बाद व्यक्ति दिखलाया नहीं जा सकता।

इसीप्रकार अश्वघोषने भी 'सौन्दरनन्द' काव्यमें बतलाया है[1] कि बुझा

---

१. दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेतिशान्तिम्।
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
—सौन्दरनन्द १६।२८, २९।

सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंको जाननेमें पूर्णरूपसे समर्थ है[1]। इस प्रकारकी शक्ति इन्द्रिय आदि अन्य किसी पदार्थमें नहीं है। वेदका दूसरा नाम श्रुति भी है।

वेदमें मुख्यरूपसे विधि और निषेधरूप दो प्रकारके कार्योंका उपदेश दिया गया है। विधि और निषेध ही वेदका प्रतिपाद्य अर्थ है। 'अग्निष्टोमेन यजेत् स्वर्गकामः' अर्थात् जिसको स्वर्ग प्राप्त करनेकी इच्छा हो वह अग्निष्टोम नामक यज्ञ करे। यह विधि वाक्य है। 'सुरां न पिबेत्'— मदिराको न पिओ। यह निषेधवाक्य है। किन्तु 'यजेत्' क्रियाका अर्थ क्या है, इस विषयको लेकर मीमांसकोंमें मतभेद पाया जाता है। यज् धातुसे लिङ्लकारमें 'यजेत्' रूप बनता है। 'यजेत्'में जो लिङ्लकार है उसका क्या अर्थ है, इस विषयमें मीमांसकोंके तीन मत हैं—भावनावादी, नियोगवादी और विधिवादी। भाट्ट 'अग्निष्टोमेन यजेत्' इस वाक्यका अर्थ भावना-परक करते हैं। प्राभाकर उसी वाक्यका अर्थ नियोग करते हैं। और वेदान्तियोंके अनुसार विधि ही उक्त वाक्यका अर्थ है। लेकिन इस मतभेदके कारण वेद वाक्योंका वास्तविक अर्थ समझना बड़ा कठिन हो जाता है। इस प्रसंगमें निम्न श्लोक ध्यान देने योग्य हैं—

भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि वाक्यार्थौ हतौ भट्टप्रभाकरौ॥
कार्येऽर्थे चोदनाज्ञानं स्वरूपे किन्न तत्प्रमा॥
द्वयोश्चेद्धन्त तौ नष्टौ भट्टवेदान्तवादिनौ॥

यदि वाक्यका अर्थ भावना है तो नियोगको वाक्यका अर्थ न माननेमें कौनसी युक्ति है। और यदि दोनों ही वाक्यके अर्थ हैं तो भाट्ट और प्राभाकरोंके सिद्धान्तोंमें मतभेद नहीं होना चाहिये। यदि वेद वाक्यका अर्थ कार्य अर्थ (जो अर्थ किया जानेवाला है अर्थात् भावना) में है तो स्वरूप (विधि) में क्यों नहीं है। यदि भावना और विधि दोनों ही वेदवाक्यके अर्थ हैं तो भाट्ट और वेदान्तवादियोंमें कोई मतभेद ही नहीं होना चाहिये।

भावना आदिका संक्षेपमें अर्थ—

भावनाका लक्षण है 'भवितुर्भवनानुकूलः भावकव्यापारविशेषः' अर्थात् जो कार्य आगे होनेवाला है उसकी उत्पत्तिके अनुकूल भावक (प्रयो-

---

१. चोदना ही भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थमवगमयितुमलम्। —शा० भा० १-१-२।

को छोड़कर ब्रह्ममें विलीन हो जाता है। जैसे कि नदियोंका जल समुद्रमें मिलनेपर अपनी पृथक् सत्ताको खो देता है। **'द्रष्टव्योऽयमात्मा श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** इस आत्मा (ब्रह्म) का दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये, इत्यादि वेदवाक्योंके द्वारा विधिरूप ब्रह्मका प्रतिपादन किया गया है। इसलिये ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य यज्ञ आदिका विधान वेद विहित नहीं है, यह विधिवादियोंका मत है।

उक्त मतोंमें परस्परमें विरोध तो है ही, साथ ही एक मत दूसरे मतका खण्डन भी करता है। भावनावादी भाट्ट कहता है कि 'यजेत्' क्रियापदका अर्थ नियोग नहीं हो सकता है। नियोग अर्थ करनेपर अनेक दोष आते हैं। नियोग प्रमाण है अथवा प्रमेय है, उभयरूप है अथवा दोनों रूपोंसे रहित है। इसीप्रकार नियोग शब्दका व्यापार है अथवा पुरुषका व्यापार है, दोनोंका व्यापार है अथवा दोनोंके व्यापारसे रहित है। इत्यादि प्रकारसे नियोगके विषयमें अनेक विकल्प उत्पन्न होते हैं।

यदि नियोग प्रमाणरूप है तो प्रमाणको चैतन्यरूप होनेसे विधि (चैतन्यरूप ब्रह्म) ही वाक्यका अर्थ हुआ। यदि शब्द व्यापारका नाम अथवा पुरुष व्यापारका नाम नियोग है, तो शब्दभावना या अर्थभावना ही नियोगका अर्थ होनेसे भाट्टमतकी ही सिद्धि होती है। नियोगका स्वभाव यदि प्रवृत्ति करानेका है तो जैसे वह प्राभाकरोंको यज्ञमें प्रवृत्त कराता है वैसे ही बौद्ध आदिको भी प्रवृत्त कराना चाहिये। और यदि नियोगका स्वभाव प्रवृत्ति करानेका नहीं है, तो वह वाक्यका अर्थ हो ही नहीं सकता। नियोग फलरहित है, अथवा फल सहित। यदि फलरहित है तो बुद्धिमान पुरुष नियोग द्वारा कार्यमें प्रवृत्ति कैसे करेंगे। और यदि नियोग फलसहित है, तो फल ही प्रवृत्तिका कारण हुआ, न कि नियोग। इत्यादि प्रकारसे नियोगको वाक्यार्थ माननेमें अनेक दोष आते हैं।

जो दोष नियोगको वाक्यार्थ माननेमें आते हैं वही दोष विधिको वाक्यार्थ माननेमें भी आते हैं। विधि प्रमाणरूप है या प्रमेयरूप, शब्द व्यापाररूप है या अर्थव्यापाररूप। विधिको प्रमाण माननेमें प्रमेय भिन्न मानना पड़ेगा। किन्तु वेदान्त मतमें ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थकी सत्ता ही नहीं है। विधिको प्रमेयरूप माननेमें भी यही दोष है। विधिको शब्दव्यापाररूप माननेमें शब्दभावनारूप और पुरुषव्यापाररूप माननेमें अर्थभावनारूप अर्थका प्रतिपादन होनेसे भाट्टमत की ही सिद्धि होती है। विधिका स्वभाव प्रवृत्ति करानेका है या नहीं। यदि

है। महर्षि जैमिनि मीमांसादर्शनके सूत्रकार हैं। मीमांसाके दो भेद हैं—पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा। पूर्वमीमांसामें वैदिक कर्मकाण्डका वर्णन है, और उत्तरमीमांसाका विषय है ब्रह्म। अतः उत्तरमीमांसा 'वेदान्त' नामसे प्रसिद्ध है। इस कारण पूर्वमीमांसाके लिए केवल मीमांसा शब्दका प्रयोग किया जाता है।

पूर्वमीमांसामें भी कुमारिलभट्ट तथा प्रभाकर इन दो प्रमुख आचार्योंके अनुयायियोंके अनुसार भाट्ट और प्राभाकर इसप्रकार दो भेद हैं।

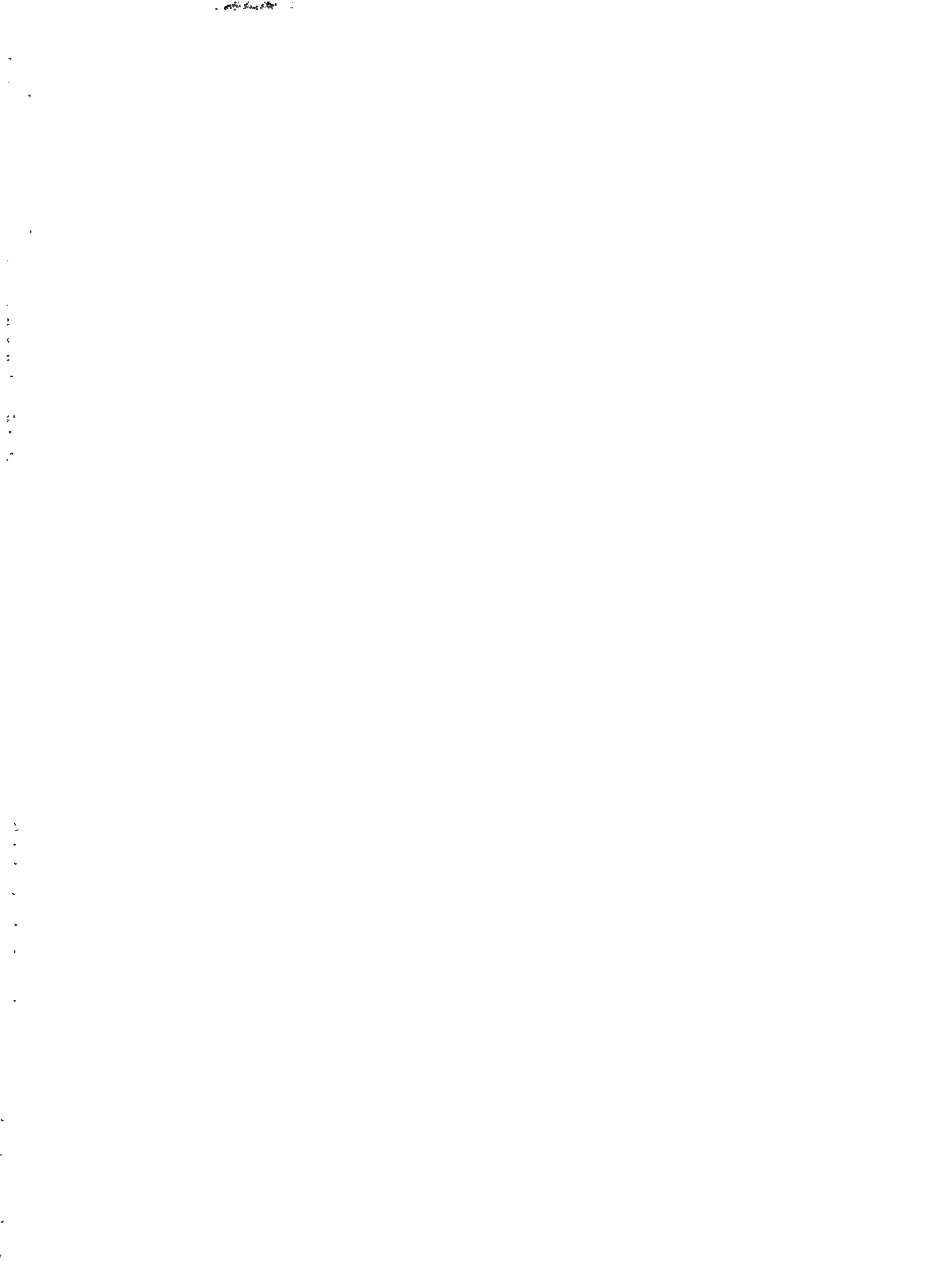
तत्त्वव्यवस्था

प्राभाकर पदार्थोंकी संख्या ८ मानते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। भाट्टोंके अनुसार पदार्थ ५ होते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, समान्य और अभाव। भाट्ट द्रव्योंकी संख्या ११ मानते हैं—न्याय-वैशेषिक द्वारा माने हुए नौ द्रव्य तथा तम और शब्द। प्राभाकर १० ही द्रव्य मानते हैं, वे तमको द्रव्य नहीं मानते। मीमांसकोंके अनुसार यह जगत् आनादि एवं अनन्त है। इसका न कोई कर्ता है और न हर्ता, यह सदासे ऐसा ही चला आया है।

प्रमाणव्यवस्था

भाट्ट ६ प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। किन्तु प्राभाकर अनुपलब्धिके विना ५ प्रमाण मानते हैं। हैं। मीमांसकों तथा नैयायिकोंके उपमान प्रमाणके स्वरूपमें भेद है। नैयायिकोंके अनुसार 'यह पदार्थ गवय शब्दका वाच्य है' इस प्रकार शब्द और अर्थमें वाच्यवाचक सम्बन्धके ज्ञानको उपमान कहते हैं। किन्तु मीमांसकोंके अनुसार 'गो सदृशोऽयं गवयः' यह गवय गायके समान है, इस प्रकार गवयको देखकर गवयमें गोसादृश्यके ज्ञानको उपमान कहते हैं। जिसने 'गोसदृशो गवयः' 'गवय गायके समान होता है' यह वाक्य सुना है उसको वनमें जानेपर और गवयके देखनेपर गायका स्मरण होता है। फिर यह ज्ञात होता है कि यह प्राणी गायके समान है। इसी सादृश्य ज्ञानको उपमान कहते हैं। नैयायिक और मीमांसक जिसको उपमान कहते हैं, जैन उसीको सादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

मीमांसक शब्दको नित्य तथा व्यापक मानते हैं। शब्दोंको नित्य होनेसे वेदका कर्ता माननेकी भी कोई आवश्तकता प्रतीत नहीं हुई। शब्द और अर्थका सम्बन्ध नित्य तथा स्वाभाविक है। वेदोंमें जो शब्दोंकी क्रम-



कारण स्मृति चुरा ली जाती है। अतः विपर्यय ज्ञानको स्मृति प्रमोप कहते हैं।

वेदान्तदर्शन

ब्रह्मसूत्रके रचयिता वादरायण वेदान्तदर्शनके प्रमुख आचार्य हैं। यथार्थमें वेदोंके अन्तमें जिन शास्त्रोंकी रचना हुई उनका नाम वेदान्त है। वेदोंके अन्तमें जो शास्त्र रचे गये उनको उपनिषद् भी कहते हैं। उपनिषद् शब्द उप तथा नि उपसर्ग पूर्वक षद् धातुसे बना है। षद्का अर्थ है बैठना, उपका अर्थ है निकट। वैदिक ऋषि अपने निकट बैठे हुये शिष्योंको अध्यात्मविद्याके गूढ़तम रहस्योंका उपदेश देते थे। उन उपदेशोंका जिन-ग्रन्थोंमें वर्णन है उनको 'उपनिषद्' नामसे कहते हैं। उपनिषद्का दूसरा नाम वेदान्त है। वादरायणने ब्रह्मसूत्रमें सम्पूर्ण उपनिषदोंका सार संगृहीत किया है। अतः ब्रह्मसूत्रका दूसरा नाम वेदान्त सूत्र भी है।

ब्रह्मसूत्रमें चार अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्यायमें चार पाद हैं। ब्रह्मसूत्रपर शंकर, भास्कर, रामानुज आदि अनेक आचार्योंने भाष्यकी रचना की है। प्रत्येक आचार्यने भिन्न-भिन्न रूपमें ब्रह्मसूत्रके सूत्रोंका अर्थ लगाया है। शंकराचार्यने अपने भाष्यमें अद्वैत ब्रह्मकी सिद्धि की है। शंकरका मत अद्वैत वेदान्तके नामसे प्रसिद्ध है। संसारके सब पदार्थ मायिक हैं अर्थात् मायाके कारण ही उनकी सत्ता प्रतीत होती है। जब तक ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता है तभी तक संसारकी सत्ता है। जैसे किसी पुरुषको रस्सीमें सर्पका ज्ञान हो जाता है, किन्तु वह ज्ञान तभी तक रहता है जब तक कि ,यह रस्सी है, सर्प नहीं' इस प्रकारका सम्यग्ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार सर्पकी कल्पित सत्ता सम्यग्ज्ञान न होने तक ही रहती है, उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान न होने तक ही संसारकी सत्ता है और ब्रह्मज्ञान होते ही यह जीव अपनी पृथक् सत्ताको खोकर ब्रह्ममें मिल जाता है। नाना जीवों तथा ईश्वरकी सत्ता भी मायाके कारण ही है। यथार्थमें एक ब्रह्म ही सत्य है। संक्षेपमें यही शंकरका मत है।

रामानुजका मत विशिष्टाद्वैतके नामसे प्रसिद्ध है। रामानुजके अनुसार नाना जीवोंकी ब्रह्मसे पृथक् सत्ता है। मुक्ति अवस्थामें भी यद्यपि जीव ब्रह्ममें मिल जाता है फिर भी अपने अस्तित्वको खो नहीं देता है। किन्तु उसका पृथक् अस्तित्व बना रहता है। संसारके पदार्थ भी मिथ्या नहीं हैं, उनकी भी सत्ता वास्तविक है। जगत्की सृष्टि करने वाला ईश्वर भी सत्य है। इस प्रकार ब्रह्म अकेला नहीं है किन्तु ईश्वर और नानाजीव

शक्तिकी उत्पत्ति होती है। एक जन्मसे दूसरे जन्ममें जानेवाला कोई नित्य आत्मा नहीं है।

चार्वाक केवल प्रत्यक्षको ही प्रमाण मानते हैं। जिस वस्तुका ज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियोंसे होता है वही ज्ञान सत्य है। चार्वाकोंके अनुसार अनुमान प्रमाण नहीं है। अनुमानकी प्रमाणता व्याप्तिज्ञानके ऊपर निर्भर है। 'जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है' इस प्रकारके ज्ञानको व्याप्तिज्ञान कहते हैं। किन्तु यह संभव नहीं है कि संसारके समस्त धूम और समस्त अग्निका ज्ञान प्रत्यक्षसे हो जाय। अतः सर्वदेशावच्छिन्न और सर्वकालावच्छिन्न व्याप्तिज्ञान न हो सकनेके कारण अनुमानमें प्रमाणता संभव नहीं है।

चार्वाकदर्शनके अनुसार धर्म भी कोई तत्त्व नहीं है। जब परलोकमें जानेवाला कोई आत्मा ही नहीं है तो धर्म किसके साथ जायगा। धर्म क्या है इस बातको समझना भी कठिन है। जीवनका चरम लक्ष्य है ऐहिक सुखोंकी प्राप्ति। अर्थके द्वारा कामकी प्राप्ति करनेमें ही जीवनकी सफलता है। नानाप्रकारके कायक्लेश आदिके द्वारा धर्मके चक्करमें पड़े रहना जीवनको नष्ट करना है। जब कोई आत्मा नहीं है तो सर्वज्ञ या ईश्वरकी संभावना इस मतमें हो ही नहीं सकती। इसप्रकार चार्वाकदर्शन भौतिकवादी दर्शन है। संक्षेपमें चार्वाकदर्शनके ये ही मुख्य सिद्धान्त हैं।

सुचारुरूपसे समीक्षा करनेपर चार्वाकदर्शनके उक्त सिद्धान्त भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होते हैं। चार्वाकका यह कहना कि कोई सर्वज्ञ नहीं है तथा प्रत्यक्षके अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं है, प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि सर्वज्ञ तथा अनुमान आदि प्रमाण प्रत्यक्षके विषय नहीं है। ऐसा होनेपर भी यदि प्रत्यक्षसे सर्वज्ञ तथा अनुमान आदि प्रमाणोंके अभावका ज्ञान होता है तो बृहस्पति आदिके प्रत्यक्ष तथा उसके विषयके अभावका ज्ञान भी हमारे प्रत्यक्षसे होना चाहिये। क्योंकि बृहस्पतिका प्रत्यक्ष भी हमारे प्रत्यक्षका विषय नहीं है।

अनुमान प्रमाणसे भी सर्वज्ञ तथा अन्य प्रमाणोंका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि चार्वाक अनुमानको प्रमाण ही नहीं मानते हैं। चार्वाक यदि नैयायिक आदिके द्वारा माने गये अनुमानसे सर्वज्ञ तथा अन्य प्रमाणोंका अभाव सिद्ध करेंगे तो यह प्रश्न उपस्थित होगा कि नैयायिकद्वारा माना गया अनुमान प्रमाणसिद्ध है या नहीं। यदि प्रमाणसिद्ध है तो चार्वाकको भी अनुमान प्रमाण मानना पड़ेगा। जो वस्तु प्रमाणसे सिद्ध होती है वह सबको माननी पड़ती है। चार्वाक प्रत्यक्षको भी इसी-

यद्यपि सर्वज्ञ बोलता है, किन्तु उसका बोलना युक्ति और आगमके अनुसार होता है। वक्तृत्व और सर्वज्ञत्वमें कोई विरोध नहीं है। जो व्यक्ति जितना अधिक ज्ञानवाला होगा, वह उतना ही अच्छा बोल सकता है। सर्वज्ञका ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है, किन्तु अतीन्द्रिय है। मोहनीयकर्मका अभाव होनेसे उसमें इच्छाका भी अभाव है। यद्यपि सर्वज्ञ पुरुष है, परन्तु वह साधारण पुरुष न होकर रागादिदोषोंसे रहित एक विशिष्ट पुरुष है। जो पुरुष इस-प्रकारका होगा उसके सर्वज्ञ होनेमें कोई बाधा नहीं है। इसलिये ऐसा मानना ठीक नहीं है कि संसारमें न तो कोई सर्वज्ञ हो सकता है और न संसारके प्राणियोंको संसारसे छूटनेका उपाय ही बतला सकता है। जो निर्दोष है वह सर्वज्ञ तथा मोक्षमार्गका उपदेशक अवश्य होता है और वही हमारा गुरु है। इसी बातको 'कश्चिदेव भवेद्गुरुः' इस वाक्य द्वारा बतलाया गया है।

यहाँ 'भवेद्गुरु' एक पद है। 'क' तथा 'चिदेव' (चित् + एव) भी पृथक्-पृथक् पद हैं। 'क' का अर्थ है परमात्मा और चित्का अर्थ है चैतन्य। 'भवेद्गुरु' का अर्थ है—संसारी प्राणियोंका गुरु। अर्थात् ज्ञाना-वरणादि चार घातिया कर्मोंका क्षय हो जानेपर जो चैतन्य परमात्मा है वही संसारी प्राणियोंका गुरु है। इसप्रकारके सर्वज्ञ और हितोपदेशी गुरुके सद्भावमें कोई भी बाधक प्रमाण नहीं है। क्योंकि बाधक प्रमाणों-का असंभव अच्छी तरहसे निश्चित है।

यहाँ मीमांसक कह सकता है कि सर्वज्ञका साधक कोई भी प्रमाण न होनेसे सर्वज्ञका सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकता। अतः जैनोंका यह कहना कि बाधक प्रमाणोंके अभावसे सर्वज्ञका सद्भाव सुनिश्चित है, ठीक नहीं है। सर्वज्ञके साधक प्रमाणोंका अभाव निम्नप्रकार है—

प्रत्यक्षके द्वारा सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं होती है, यह स्पष्ट ही है। क्योंकि प्रत्यक्ष इन्द्रियोंसे सम्बद्ध निकटवर्ती वर्तमान पदार्थको ही जानता है। सर्वज्ञके साथ अविनाभावी किसी हेतुकी उपलब्धि न होनेसे अनुमानके द्वारा भी सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं होती है। आगम दो प्रकार का है—नित्य और अनित्य। नित्य आगम (वेद) से सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि उसमें कर्मकाण्डका ही वर्णन है। वेदमें भी जहाँ सर्वज्ञ आदि शब्द आते हैं वे अर्थवादरूप हैं। अर्थात् वे सर्वज्ञरूप अर्थको न कहकर [illegible] अनुष्ठानपरक हैं। वह अनादि है और सर्वज्ञ सादि है। इसलिये

१. [illegible]

शंका—सर्वज्ञके विषयमें विद्यमान पदार्थोंको जाननेवाले प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणोंकी प्रवृत्ति न होनेसे सर्वज्ञकी सत्ताग्राहक प्रमाणका अभाव ही सर्वज्ञका बाधक प्रमाण है।

उत्तर—सर्वज्ञकी सत्ताग्राहक प्रमाणका अभाव केवल मीमांसकके लिए है या सबके लिए है। यदि मीमांसकके लिए है तो उसके लिए तो अन्य वस्तुओंकी सत्ताग्राहक प्रमाणका भी अभाव संभव है। दूसरोंके चित्तोंमें क्या-क्या व्यापार हो रहा है, उस सबको भी मीमांसक नहीं जानते हैं। अतः मीमांसकको किसी वस्तुका ज्ञान न होनेसे उसका अभाव बतलाना कहाँ तक न्यायसंगत है। समस्त पुरुषोंके लिए सर्वज्ञकी सत्ताग्राहक प्रमाणका अभाव बतलाना भी उचित नहीं है। क्योंकि समस्त पुरुषोंका ज्ञान करना असंभव है। और यदि मीमांसकने सबका ज्ञान कर लिया है तो वही सर्वज्ञ हो गया, फिर सर्वज्ञका निराकरण करनेसे क्या लाभ है।

मीमांसक अभाव प्रमाणसे सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करते हैं। यदि सर्वज्ञ होता तो उसकी उपलब्धि होना चाहिए। अतः सर्वज्ञ उपलब्ध नहीं होता है अतः सर्वज्ञका अभाव अनुपलब्धि प्रमाणसे सिद्ध है।

किन्तु मीमांसकका उक्त कथन भी असंगत ही है। अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति कहाँ होती है इस विषयमें स्वयं मीमांसकोंने कहा है—

गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥

इसलिये संसारी प्राणियोंका जो गुरु या स्वामी है, उसको सर्वज्ञ मानने-में किसी प्रकारका संशय या विरोध नहीं है। सर्वज्ञका स्वभाव समस्त पदार्थोंको जाननेका है, इस स्वभावको छोड़कर अन्य कोई दूसरा (अज्ञान-रूप) स्वभाव सर्वज्ञका नहीं है। संसारका ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसको सर्वज्ञ न जानता हो।

शंका—यह कैसे जाना कि सर्वज्ञका स्वभाव समस्त पदार्थोंको जानने-का है?

उत्तर—इस बातको तो स्वयं मीमांसक भी मानते हैं कि आत्माका स्वभाव समस्त पदार्थोंको जाननेका है। वेदके द्वारा भूत, भविष्यत्, वर्त-मान, सूक्ष्म एवं दूरवर्ती पदार्थोंका ज्ञान होता है, ऐसा मीमांसकोंका मत है। व्याप्तिज्ञानके द्वारा भी जिन वस्तुओंमें व्याप्ति (अविनाभाव) है उन सब पदार्थोंका ज्ञान होता है। जैसे धूम और वह्निमें व्याप्तिज्ञान हो जानेसे संसारके सब धूम और वह्निका ज्ञान हो जाता है। 'जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ वह्नि होती है और जहाँ वह्नि नहीं होती है वहाँ धूम नहीं होता है', इस प्रकारके ज्ञानका नाम व्याप्तिज्ञान है। अतः यह बात सु-निश्चित है कि आत्माका स्वभाव समस्त पदार्थोंको जाननेका है।

शंका—यदि आत्माका स्वभाव समस्त पदार्थोंको जाननेका है तो सबको सब पदार्थोंका ज्ञान न होकर कुछ ही पदार्थोंका ज्ञान क्यों होता है?

उत्तर—सबको सब पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता है, इसका कारण ज्ञाना-वरण कर्मका उदय है। ज्ञानावरण कर्मका स्वभाव ज्ञानके आवरण करनेका है। जितने अंशमें ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होता है उतने ही अंशमें पदार्थोंका ज्ञान न्यूनाधिक होता है। जैसे मदिरा पीनेसे चेतना शक्ति कुण्ठित हो जाती है, यहाँ तक कि मदिरा पीनेवाले व्यक्तिको स्वयं अपने विषयमें भी कुछ भान नहीं रहता है, इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मके सम्बन्धसे जीवकी ज्ञान-शक्ति कुण्ठित हो जाती है। और जब ज्ञानावरण कर्मका पूर्ण क्षय हो जाता है तब वह आत्मा स्वभावसे समस्त पदार्थोंको स्पष्ट जानने लगता है।

शंका—[illegible] आत्मा भी निकटवर्ती [illegible] जान सकता है, न कि सूक्ष्म, दूरवर्ती और [illegible]

[illegible]

गयी है, जो कर्मोंके भेत्ता हैं, सब पदार्थोंके ज्ञाता हैं और मोक्षमार्गके नेता हैं।

प्रश्न—भगवान् अर्हन्तमें दोष और आवरणकी पूर्ण हानि हो जाती है, इस बातका क्या प्रमाण है ?

उत्तर—

दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात् ।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥

किसी पुरुष-विशेषमें दोष और आवरणकी पूर्ण हानि हो जाती है क्योंकि दोष और आवरणकी हानिमें अतिशय देखा जाता है। जैसे खान-से निकाले हुए सोनेमें कीट आदि बहिरङ्ग मल और कालिमा आदि अन्तरङ्ग मल रहता है, किन्तु अग्निमें पुटपाक आदि कारणोंके द्वारा सोनेमें दोनों प्रकारके मलोंका अत्यन्त नाश हो जाता है।

कर्म दो प्रकारके होते हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। द्रव्यकर्मके कार्य अज्ञान आदि जो भावकर्म हैं उन्हींका नाम दोष है और भावकर्मके कारण ज्ञानावरण आदि जो द्रव्यकर्म हैं उनको आवरण कहते हैं। दोष और आवरणकी हानिमें प्रकर्ष या अतिशय देखा जाता है। अर्थात् सब प्राणियों-में दोष और आवरणकी हानि एकसी नहीं रहती है, किन्तु तरतमरूपसे रहती है। एक प्राणीमें सबसे कम हानि है, दूसरेमें उससे अधिक हानि है, तीसरेमें उससे भी अधिक हानि है, इस प्रकार दोष और आवरणकी हानि-का क्रम वहाँ समाप्त होता है जहाँ हानि अपनी चरम सीमापर पहुंच जाती है, अर्थात् जहाँ पूर्ण हानि हो जाती है। जैसे एक प्राणीमें एक प्रतिशत दोष और आवरणकी हानि है, दूसरेमें दो प्रतिशत हानि है, तीसरेमें तीन प्रतिशत हानि है, इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते किसी पुरुषमें शत प्रतिशत हानि भी हो सकती है। यही हानिकी चरम सीमा है। खानसे जो सोना निकलता है उसमें कीट आदि मल रहता है, इसीलिये उसको कनकपाषाण कहते हैं। जब कीट आदि मलको दूर करनेके लिये सोनेको अग्निमें पुटपाक (क्रियाविशेष)के द्वारा तपाया जाता है, तो क्रमशः मल-की हानि होते-होते अन्तमें पूर्ण हानि हो जाती है, और सोना अपने शुद्ध रूपमें निकल आता है। यही बात दोष और आवरणकी हानिके विषयमें भी है।

शंका—दोष और आवरणमें कार्यकारणभाव होनेसे आवरणकी हानि होनेपर दोषकी हानि अथवा दोषकी हानि होनेपर आवरणकी हानि स्वतः

भाव सिद्ध करना हमारा अभीष्ट है। अतः सत्यमें दोष और आवरणकी पूर्ण हानि बतलाना ठीक नहीं है।

शंका—यदि हानिमें अतिशय होनेके कारण दोष और आवरणकी पूर्ण हानि हो जाती है, तो किसी आत्मामें बुद्धिका भी पूर्ण नाश हो जाना चाहिये। क्योंकि बुद्धिकी हानिमें भी अतिशय देखा जाता है। किसीमें अधिक बुद्धि है, किसीमें उससे कम बुद्धि है और अन्यमें उससे भी कम बुद्धि है। इस प्रकार बुद्धिकी हानिमें अतिशय पाया जाता है। यदि बुद्धिका अत्यन्त नाश नहीं होता है, तो फिर यह कहना भी ठीक नहीं है कि दोप और आवरणका अत्यन्त नाश हो जाता है।

उत्तर—बुद्धिकी हानिमें अतिशय पाया जाता है तो पृथिवी आदिमें बुद्धिकी भी सर्वथा हानि होती ही है। जब पृथिवीकायिक जीवने पृथिवीको शरीररूपसे ग्रहण किया तो चेतन जीवके संयोगसे पृथिवी भी चेतन हो गयी। पृथिवीमें चेतन जीवके संयोगसे बुद्धि भी मानना ही होगी। बादमें आयुकर्मके क्षय होनेपर जीवने पृथिवीकायको छोड़ दिया तो उस पृथिवीमेंसे बुद्धिकी अत्यन्त हानि हो जानेसे बुद्धिमें भी पूर्ण हानि पायी ही जाती है। अतः जहाँ हानिमें अतिशय होगा वहाँ उसकी अत्यन्त हानि नियमसे होगी।

शंका—पृथिवीकायसे जीवके निकल जानेपर उसमें जीवके बुद्धि आदि गुणोंका पूर्ण अभाव सिद्ध करना कठिन है। क्योंकि बुद्धि आदि अदृश्य हैं और अदृश्य वस्तुका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता है। 'यहाँ परमाणु नहीं है अथवा पिशाच नहीं है' ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि परमाणु आदि अदृश्य हैं। नहीं दिखनेपर भी उनकी सत्ता संभव है। इसी प्रकार 'इस पृथिवीकायमें बुद्धि नहीं रही' ऐसा कहना कठिन है।

उत्तर—यदि चेतनता या बुद्धिको अदृश्य होनेसे पृथिवीकायमें उसका अभाव नहीं माना जायगा तो किसी मनुष्यके मरनेपर उसमें भी चेतनताका अभाव मानना अनुचित होगा। अथवा वहाँ चेतनताके अभावमें संदेह रहेगा। ऐसी स्थितिमें उसकी दाहक्रिया करनेवाले मनुष्योंको महान् पापका बन्ध होगा। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि अदृश्य होनेसे पृथिवीकायमें चेतनताका अभाव नहीं माना जा सकता। लोकमें भी रोग आदि अप्रत्यक्ष पदार्थोंकी सर्वथा निवृत्ति देखी जाती है। इसलिए अदृश्य पदार्थकी निवृत्ति माननेमें कोई दोष नहीं है।

यदि ऐसा माना जाय कि जो अदृश्य और दूरवर्ती पदार्थ हैं उनका

उत्तर—उक्त शंका ठीक नहीं है। आत्मामें जो मल है वह आगन्तुक है, और नाशके कारणोंके मिलनेपर उसका पूर्ण नाश होना अवश्यंभावी है। आत्माका परिणाम दो प्रकारका है—स्वाभाविक और आगन्तुक। अनन्त ज्ञान आदि जो आत्माका स्वरूप है वह स्वाभाविक परिणाम है, और कर्मके उदयसे होने वाला अज्ञान आदि आगन्तुक परिणाम है। यह आगन्तुक परिणाम आत्माका विरोधी है, इसलिए जव नाशके कारण मिल जाते हैं तो उसका नाश अवश्य हो जाता है। सम्यग्दर्शन आदि मिथ्यादर्शन आदिके विरोधी हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शन आदिका प्रकर्प होनेपर मिथ्यादर्शन आदिका अपकर्प देखा जाता है। जव सम्यग्दर्शनादिका पूर्ण प्रकर्प हो जाता है तो मिथ्यादर्शनादिका पूर्ण क्षय भी नियमसे होता है। इसलिये ऐसा नहीं है कि एक दोपका क्षय होनेपर भो दूसरा दोप वना रहता है, किन्तु दोपोंके विरोधी गुणोंका प्रकर्प होनेपर दोपोंका सर्वथा अभाव निश्चितरूपसे हो जाता है।

शंका—यह ठीक है कि किसी आत्मामें दोप और आवरणका सर्वथा अभाव हो जाता है। किन्तु उस आत्माको देश, काल और स्वभावसे विप्रकृष्ट पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है, यह वात समझमें नहीं आती। जिस चक्षुमें कोइ दोप नहीं है वह देश, काल और स्वभावसे विप्रकृष्ट पदार्थोंको नहीं जान सकती। ग्रहण तथा मेघ पटलके दूर होनेपर सूर्य भी अपने योग्य वर्तमान पदार्थोंको ही प्रकाशित करता है। इसी प्रकार दोप और आवरणरहित आत्मा भी धर्म आदि सूक्ष्म पदार्थोंको कैसे जान सकता है। किसी पुरुप द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान करनेमें मीमांसकको कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु धर्मका ज्ञान वेद द्वारा ही हो सकता है। वेदके अतिरिक्त किसी पुरुपमें ऐसी शक्ति नहीं है कि वह धर्मका ज्ञान कर सके। अर्थात् पुरुप सर्वज्ञ हो सकता है, धर्मज्ञ नहीं[१]।

इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरितिसर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥

देश, काल और स्वभावसे विप्रकृष्ट पदार्थ किसीको प्रत्यक्ष होते हैं, क्योंकि उनको हम अनुमानसे जानते हैं। जो पदार्थ अनुमानसे जाने जाते

१. धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते।
सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते ॥

त्वात्', 'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह तालु आदिसे उत्पन्न किया जाता है'। इस अनुमानमें भी उक्त दोष दिया जा सकता है। कृतकत्व हेतु यदि अनित्य शब्दका धर्म है, तो जैसे अनित्य शब्द असिद्ध है वैसे उसका धर्म हेतु भी असिद्ध है। यदि हेतु नित्य शब्दका धर्म है, तो अनित्यसे विरुद्ध नित्य शब्दको सिद्ध करनेके कारण हेतु विरुद्ध है। यदि हेतु नित्य और अनित्य दोनों धर्मोंका है, तो पक्ष, सपक्ष और विपक्षमें रहनेके कारण अनैकान्तिक है। इसी प्रकार धूमसे वह्निको सिद्ध करनेमें भी उक्त दोष दिये जा सकते हैं। यहाँ बौद्ध यदि कहे कि कृतकत्व हेतु ऐसे धर्मीका धर्म है जिस धर्मीके अनित्य होनेमें विवाद है। अर्थात् शब्दके अनित्य होनेमें विवाद है, अतः अनित्यरूपसे विवादापन्न शब्दका कृतकत्व धर्म है। तो जैन भी यही कहेंगे कि अनुमेयत्व हेतु भी ऐसे धर्मीका धर्म है जिसके सर्वज्ञ होनेमें विवाद है। अतः जब अनुमेयत्व हेतु सर्वज्ञरूपसे विवादापन्न धर्मीका धर्म है, तब अनुमेयत्व हेतुमें असिद्ध आदि दोष देना असंगत है।

सूक्ष्म आदि पदार्थोंको जाननेवाला जो प्रत्यक्ष है वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। पहिले तो सामान्यरूपसे इतना ही सिद्ध किया गया है कि सूक्ष्म आदि पदार्थ प्रत्यक्षसे जाने जाते हैं। किन्तु सूक्ष्मरूपसे विचार करने पर यह मानना पड़ता है कि उनको जाननेवाला प्रत्यक्ष इन्द्रिय जन्य नहीं है, किन्तु अतीन्द्रिय है। इन्द्रियप्रत्यक्षमें इतनी शक्ति नहीं है कि वह सूक्ष्म आदि पदार्थोंका ज्ञान कर सके। अतः सूक्ष्म आदि पदार्थोंको जाननेवाले प्रत्यक्षको अतीन्द्रिय मानना अनिवार्य है।

शंका—सूक्ष्मादि पदार्थ किसको प्रत्यक्ष होते हैं? अर्हन्तको या अनर्हन्तको अथवा किसीको भी। यदि अर्हन्तको प्रत्यक्ष होते हैं तो 'सूक्ष्मादयः कस्यचित् प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात्' इस अनुमानमें अर्हन्त शब्द न आनेसे अर्हन्तमें सूक्ष्मादि अर्थोंका प्रत्यक्ष सिद्ध करना कैसे संभव है। दूसरी बात यह भी है कि जिस हेतुसे सूक्ष्मादि पदार्थ अर्हन्तको प्रत्यक्ष होते हैं उसी हेतुसे बुद्ध आदिकोभी प्रत्यक्ष होंगे। यदि अनर्हन्त (बुद्ध आदि)में सूक्ष्मादि अर्थोंका प्रत्यक्ष माना जाय तो जैनोंको यह बात अनिष्ट है, क्योंकि जैन अर्हन्तको छोड़कर अन्य किसीको सर्वज्ञ नहीं मानते। यदि यह कहा जाय कि सूक्ष्मादि पदार्थ किसीको भी प्रत्यक्ष होते हैं, तो अर्हन्त और अनर्हन्तको छोड़कर और कौन शेष बचता है जिसमें सूक्ष्मादि अर्थोंका प्रत्यक्ष माना जाय।

है कि आपके वचन युक्ति और आगमसे अविरोधी हैं।

अब यहाँ यह विचार करना है कि अर्हन्तने किन-किन तत्त्वोंका प्रतिपादन किया है और उनमें बाधा क्यों नहीं आती है। अर्हन्तने मुख्य-रूपसे चार तत्त्वोंका उपदेश दिया है—मोक्ष, मोक्षके कारण, संसार और संसारके कारण। आत्माके साथ ज्ञानावरणादि आठ कर्म अनादिसे लगे हुए हैं। संवर और निर्जराके द्वारा आठ कर्मोंके नष्ट हो जानेपर आत्मा-का अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर लेना मोक्ष है। कर्मोंके कारण आत्माके स्वाभाविक गुण प्रगट नहीं हो पाते हैं। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त-सुख और अनन्तवीर्य ये आत्माके विशेष गुण हैं। आठ कर्मोंका नाश हो जानेपर आत्मा उक्त गुणोंकी प्राप्तिके साथ ही सदाके लिए संसारके बन्धनसे छूट जाता है। इसीका नाम मोक्ष है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षके कारण हैं। 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।' इस सूत्रमें एकवचनान्त मार्ग शब्द इसी बातको बतलाता है कि सम्यग्दर्शनादि तीनों मिलकर मोक्षके मार्ग हैं, पृथक्-पृथक् नहीं।

संसार क्या है? 'स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः।' अपने-अपने कर्मके अनुसार जीव एक जन्मसे दूसरे जन्ममें और दूसरे जन्मसे तीसरे जन्ममें चक्कर लगाते रहते हैं, इसीका नाम संसार है। यथार्थमें 'संसरणं संसारः' भ्रमण करनेका नाम संसार है। संसारी जीव कर्मरूपी यन्त्रके वशमें होकर सदा भ्रमण किया करते हैं। उन्हें एक क्षणके लिए भी निराकुल सुखकी प्राप्ति नहीं होती है। संसारमें अनन्त दुःख हैं, जिनके कारण जीव सदा दुःखी रहते हैं। संसारमें जन्म, मरण, बुढ़ापा, क्षुधा, तृषा आदिके दुःखोंको सब अनुभव करते हैं। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अथवा मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये संसारके कारण हैं। मिथ्यादर्शनादिके द्वारा जीव सदा कर्मबन्ध किया करता है, और कर्मबन्धके कारण ही जीवको संसारके दुःख भोगना पड़ते हैं। इसलिये मिथ्यादर्शनादि संसारके कारण हैं। जब संसार है तो संसारके कारण मानना भी आवश्यक है, क्योंकि यदि संसार-का कोई कारण न हो तो संसारको नित्य मानना पड़ेगा, क्योंकि ऐसा नियम है कि जिस वस्तुका कोई कारण नहीं होता है वह नित्य होती है। और यदि संसार नित्य है तो किसीको कभी भी मोक्षकी प्राप्ति संभव न होगी। चूँकि मिथ्यादर्शनादि संसारके कारण हैं अतः संसार अनित्य है। इस प्रकार अर्हन्तने मोक्ष आदि चार तत्त्वोंका उपदेश किया है।

अग्नि प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु वह तिरोहित अवस्थामें अवश्य विद्यमान है। उसी तिरोहित अग्निसे अग्निकी उत्पत्ति होती है। यदि चार्वाक अग्निके विना अग्निकी उत्पत्ति मानता है, तो जलके विना जलकी उत्पत्ति, पृथिवीके विना पृथिवीकी उत्पत्ति और वायुके विना वायुकी उत्पत्ति भी मानना पड़ेगी। तब पृथिवी आदि चार तत्त्वोंका मानना भी व्यर्थ ही है, क्योंकि किसी एक तत्त्वके माननेपर भी अन्य तत्त्वोंकी उत्पत्ति बन जायगी।

चैतन्य और भूतोंको विजातीय होनेसे उनमें उपादान-उपादेयभाव नहीं हो सकता है। विजातीय होनेका कारण यह है कि उन दोनोंका लक्षण भिन्न-भिन्न है। जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पाये जाँय वह भूत है, और जिसमें ज्ञान-दर्शन पाया जाय और जो अपना अनुभव कर सके वह चैतन्य है। भूतोंमें न तो ज्ञान-दर्शन पाया जाता है और न स्वसंवेदन ही। यह बात इसीसे सिद्ध है कि भूतोंको अनेक व्यक्ति प्रत्यक्षसे देखते हैं, किन्तु ज्ञान-दर्शनको कोई नहीं देख सकता है। ज्ञान-दर्शन या चैतन्यशक्ति यदि भूतोंके गुण होते तो रूप, रस आदिकी तरह ज्ञान-दर्शन आदिका भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। मृत्यु हो जानेपर भी जैसे मृत शरीरमें रूप, रस आदि गुण विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार चैतन्यशक्ति भी वहाँ विद्यमान रहना चाहिये। किन्तु ऐसा कभी देखनेमें नहीं आया। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि ज्ञान और दर्शन पृथिवी आदि भूतोंके लक्षण नहीं है, किन्तु चैतन्यके लक्षण है। भूत और चैतन्य दोनोंके लक्षण भिन्न-भिन्न होनेसे उनमें सजातीयता सिद्ध नहीं हो सकती है। सतः भूत और चैतन्य विजातीय है, अतः भूत त्रिकालमें भी चैतन्यके उपादान कारण नहीं हो सकते हैं। यदि विजातीयसे विजातीयकी उत्पत्ति मानी [illegible] और [illegible] उत्पत्ति भी मानना पड़ेगी। [illegible] सिद्ध होता है कि भूत चैतन्यके उपादान [illegible] सिद्ध होता है कि गर्भमें स्थित चैतन्यका [illegible] है। वही चैतन्य [illegible] चैतन्य [illegible] है।

[illegible] भी [illegible] है। [illegible]

है जो चेतन हो और अज्ञानका विरोधी हो। एक घटको दूसरा घट नहीं जान सकता, क्योंकि वह अचेतन है। अन्धकारका नाश अन्धकारसे नहीं होता है, किन्तु अन्धकारके नाशके लिये प्रकाशकी आवश्यकता पड़ती है। इसलिये ज्ञान अचेतन प्रकृतिका धर्म नहीं है, किन्तु चेतन आत्माका धर्म है। ज्ञान, दर्शन आदि आत्माके गुणोंका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि ज्ञान आदि अचेतन नहीं हैं, किन्तु चेतन हैं। सांख्योंका कहना है कि यद्यपि ज्ञान स्वयं चेतन नहीं है, किन्तु चेतन आत्माके संसर्गसे चेतन जैसा प्रतीत होता है। जैसे अग्निके संसर्गसे लोहे-का गोला भी अग्नि जैसा प्रतीत होने लगता है। किन्तु यदि चेतनके संसर्ग-से अचेतन वस्तु भी चेतन हो जाय तो शरीरको भी चेतन हो जाना चाहिये। क्योंकि चेतन आत्माका संसर्ग शरीरके साथ भी है। अतः ज्ञान आदि अचेतन नहीं हैं, किन्तु आत्माके स्वभाव या धर्म हैं। इसप्रकार सांख्य द्वारा अभिमत मोक्ष तत्त्व समीचीन नहीं है।

नैयायिक और वैशेषिक मोक्षका स्वरूप इसप्रकार मानते हैं—'वुद्धया-दिविशेषगुणोच्छेदादात्मत्वमात्रेऽवस्थानं मुक्तिः'—वुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और संस्कार आत्माके इन नौ विशेष गुणोंका नाश हो जाने पर आत्माका आत्मामात्रमें स्थित होना मुक्ति है। यद्यपि ज्ञान आदि आत्माके गुण हैं, किन्तु ये गुण आत्मासे भिन्न हैं, और समवाय सम्बन्धसे आत्मामें रहते हैं। जब तक संसार है तभी तक इन गुणोंका आत्मामें सद्भाव रहता है, और मोक्षमें इन गुणोंका पूर्णरूपसे अभाव हो जाता है।

नैयायिक और वैशेपिकका उक्त मत भी विचार करने पर असंगत ही प्रतीत होता है। उक्त मतके अनुसार मुक्ति प्राप्तिका अर्थ हुआ—स्व-रूपकी हानि। संसारके प्राणी संसारके दुःखोंसे छूट कर अपने स्वाभाविक स्वरूपको प्राप्त करनेके लिए ही मुक्तिको चाहते हैं। यदि उन्हें यह मालूम हो जाय कि मुक्तिमें वे अपने स्वरूपको खोकर पत्थरके समान हो जाँयगे तो वे ऐसी मुक्तिको दूरसे ही हाथ जोड़ लेंगे। इसीलिए कुछ लोग वैशे-पिक मतकी मुक्तिकी अपेक्षा वृन्दावनके वनमें शृगाल होना अच्छा सम-झते हैं। क्योंकि वहाँ खानेको हरी घास और पीनेको ठण्डा पानी तो मिलेगा। नैयायिक और वैशेपिकोंका कहना है कि बुद्धि आदि गुण आत्मा से भिन्न हैं। क्योंकि आत्मा नित्य है, उसका कभी नाश या उत्पाद नहीं होता, किन्तु गुण उत्पन्न और नष्ट होते हैं। इसीलिए दोनोंमें स्वभाव भेद है। किन्तु ऐसा मानने पर भी ज्ञानादिको आत्मासे सर्वथा भिन्न नहीं

उसके कहनेका अभिप्राय कुछ दूसरा ही होता है। यदि सुननेवाले उसके असली अभिप्रायको समझ लें तो उसको कभी भी वीतराग न मानें। इसलिये किसीके व्यापार और व्याहारको देखकर यह कहना कि यह वीतराग है, उचित नहीं है। क्योंकि वैसा व्यापार और व्याहार अवीतरागमें भी पाया जाता है।

बौद्धोंका उपर्युक्त कथन स्वयं बुद्धकी असर्वज्ञता एवं अवीतरागताको ही सिद्ध करता है। बौद्ध बुद्धको सर्वज्ञ और वीतराग मानते हैं। यदि पुरुषोंमें नानाप्रकारके अभिप्रायके कारण यह निर्णय करना कठिन है कि यह वीतराग है और यह नहीं, तो बुद्धमें भी वीतरागताका निर्णय कैसे करेंगे। और तब कपिल आदिसे बुद्धको विशिष्ट पुरुष (वीतराग) कैसे मान सकेंगे। यदि यथार्थ ज्ञानवाले पुरुषमें भी हम विसंवादकी कल्पना करें, तो फिर कौन पुरुष विश्वास भाजन होगा। अर्थात् संसारमें कोई विश्वास करने योग्य ही नही रहेगा। वीतरागमें विचित्र अभिप्राय भी नहीं हो सकता है। प्रत्युत उसमें तो यथार्थ अर्थके प्रतिपादन करनेका ही अभिप्राय होता है। अवीतरागमें अवश्य नाना प्रकारका अभिप्राय पाया जाता है। क्योंकि उसको अपनी पूजा, ख्याति, परवञ्चना, स्वार्थसिद्धि आदिकी इच्छा रहती है। किन्तु जो वीतराग है उसकी सब क्रियायें केवल परोपकारके लिये ही होती हैं। ख्याति, किसीको ठगने आदिका लेश भी नहीं रहता है। अवीतराग पुरुषका व्यापार और व्याहार एक समयमें जैसा होगा दूसरे समयमें वैसा नहीं होगा। किन्तु वीतरागका व्यापार और व्याहार सदा एक ही उद्देश्यको लिए हुए होगा। इसलिये वीतराग और अवीतरागका निर्णय करना कठिन नहीं है।

जो व्यक्ति ऐसा कहता है कि विचित्र अभिप्रायके कारण वीतराग और अवीतरागका निर्णय करना कठिन है उसके यहाँ अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता। बौद्धोंके यहाँ तीन हेतु माने गये हैं—कार्य, स्वभाव और अनुपलब्धि। पर्वतमें धूमको देखकर जो वह्निका ज्ञान किया जाता है, वह कार्य हेतु जन्य है, क्योंकि यहाँ धूम वह्निका कार्य है। 'यह वृक्ष है, शिंशपा होनेसे', इस अनुमानमें शिंशपासे जो वृक्षका ज्ञान किया जाता है, वह स्वभाव हेतुजन्य है, क्योंकि शिंशपा वृक्षका स्वभाव है। 'यहाँ घट नहीं है, अनुपलब्ध होने से।' यहाँ जो घटके अभावका ज्ञान होता है, वह अनुपलब्धि हेतुजन्य है। किन्तु कार्य हेतु और स्वभाव हेतुमें व्यभिचार पाया जाता है। हम देखते हैं कि काष्ठ आदिके होने पर अग्नि होती है

कहना चाहता है और कुछ कह देता है, किसीका नाम लेना चाहता है किन्तु उससे भिन्न अन्य किसीका नाम बोल देता है। जिसका नाम उसने बोला उसके बोलनेकी इच्छा उसको नहीं थी। इत्यादि अनेक हेतु और दृष्टान्तों द्वारा यह सिद्ध होता है कि वचनकी प्रवृत्ति विना इच्छाके भी होती है। यदि सोये हुए व्यक्तिको बोलनेकी इच्छा रहती है तो जागने पर इच्छाका स्मरण होना चाहिये, जैसे कि दूसरी इच्छाओंका स्मरण होता है। किन्तु सुपुप्त व्यक्तिकी इच्छाका स्मरण न होनेसे उसमें बोलनेकी इच्छाका अभाव मानना होगा। इसलिए वचनकी प्रवृत्ति और इच्छामें कोई कार्यकारण सम्बन्ध न होनेसे सर्वज्ञकी वचनप्रवृत्तिको विना इच्छाके माननेमें कोई विरोध नहीं है। वचनकी प्रवृत्तिका कारण चैतन्य और जिह्वा इन्द्रियकी पटुता या अविकलता ही है।

शंका—चैतन्य तथा करणपटुता (इन्द्रियकी पूर्णता) के साथ विवक्षा भी बोलनेमें सहकारी कारण है और सहकारी कारणके विना कार्य नहीं होता है। इसलिये विवक्षाको भी वचन प्रवृत्तिका कारण मानना आवश्यक है।

उत्तर—सहकारी कारणको नियमसे होना ही चाहिये ऐसा नियम नहीं है। कहीं कहीं पर सहकारी कारणके विना भी कार्यकी उपलब्धि देखी जाती है। देखनेमें प्रकाश सहकारी कारण है, लेकिन रात्रिमें चलने वाले बिल्ली, उल्लू आदिको तथा जिसने अपनी आँखमें अञ्जन विशेष लगा लिया हो उसको प्रकाशके विना भी दिख जाता है। यदि चैतन्य और करणपटुताके अभावमें विवक्षामात्रसे कहीं वचनकी प्रवृत्ति देखी जाती तो विवक्षाको कारण मानना आवश्यक था। किन्तु चैतन्य और करणपटुताके अभावमें विवक्षामात्रसे वचनकी प्रवृत्ति न होनेके कारण विवक्षा वचनकी प्रवृत्तिका आवश्यक कारण नहीं है। जिसको शास्त्रका ज्ञान नहीं है उसको शास्त्रके व्याख्यानकी इच्छा होने पर भी वह शास्त्रका व्याख्यान नहीं कर सकता। और जिसकी जिह्वा इन्द्रिय ठीक नहीं है वह बोलनेकी इच्छा होने पर भी नहीं बोल सकता। इसलिये ज्ञान और करणपटुता ही बोलनेके आवश्यक कारण हैं, विवक्षा नहीं।

राग, द्वेष आदि दोषोंका समुदाय भी वचनप्रवृत्तिका कारण नहीं है। जिसप्रकार बुद्धि और करणपटुताका प्रकर्ष होने पर वाणीका प्रकर्ष और उनका अपकर्ष होने पर वाणीका अपकर्ष देखा जाता है, उसप्रकार दोषोंका प्रकर्ष होने पर वचनका प्रकर्ष और दोषोंका अपकर्ष होने पर वचनका

नहीं है कि वह संसारके समस्त साध्य और साधनोंका ज्ञान कर सके। अत; प्रत्यक्षके द्वारा अविनाभावका ज्ञान संभव नहीं है।

अनुमानके द्वारा भी अविनाभावका ज्ञान सम्भव नहीं है। 'पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्वात्' इस अनुमानमें जो अविनाभाव है उसका ज्ञान इसी अनुमानसे होगा या दूसरे अनुमानसे। यदि दूसरे अनुमानसे इस अनुमानके अविनाभावका ज्ञान होगा तो दूसरे अनुमानमें अविनाभावका ज्ञान तीसरे से और तीसरेमें अविनाभावका ज्ञान चौथे अनुमानसे होगा। इस प्रकार अनवस्था दूषण आता है। यदि इसी अनुमानसे इस अनुमानके अविनाभावका ज्ञान किया जाता है तो ऐसा माननेमें अन्योन्याश्रय दोष आता है। क्योंकि अविनाभावका ज्ञान हो जानेपर अनुमान होगा और अनुमानके उत्पन्न होनेपर अविनाभावका ज्ञान होगा। इसप्रकार बौद्धोंके यहाँ किसी भी प्रमाणसे अविनाभावका ज्ञान न हो सकनेके कारण अनुमान प्रमाण सिद्ध नहीं होता है। इसलिये अनुमान प्रमाणसे भी अनित्यत्वैकान्तकी सिद्धि नहीं होती है।

जैनमतमें अविनाभावको ग्रहण करनेवाला तर्क नामका एक पृथक् प्रमाण है। तर्कमें ही अविनाभावको जाननेकी शक्ति है। विषयके भेदसे प्रमाणोंमें भेद होता है। अविनाभाव एक ऐसा विषय है जिसका ग्रहण तर्कके सिवाय अन्य किसी प्रमाणसे नहीं हो सकता है। अत: तर्कका मानना आवश्यक है। तर्कके द्वारा अविनाभावका ज्ञान हो जानेपर किसी प्रकारका संशय नहीं रहता है। यदि बौद्ध आदि तर्कको प्रमाण नहीं मानते हैं तो अनुमानको भी प्रमाण न मानें। क्योंकि जो बात तर्ककी प्रमाणताके विषयमें है, वही अनुमान आदि प्रमाणोंके विषयमें भी है। तर्क अपने विषय (अविनाभाव) में समारोप (संशय, विपर्यय, और अनध्यवसाय) का निराकरण करता है। अन्य प्रमाण भी यही काम करते हैं। तर्कके द्वारा जो अविनाभाव सम्बन्धका ज्ञान होता है वह निश्चयात्मक होता है। यदि उसके द्वारा अविनाभावका निश्चयात्मक ज्ञान न हो तो वह प्रमाण नहीं हो सकता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसमें सविकल्पक (निश्चयात्मक) प्रत्यक्षकी अपेक्षा रहती है। निर्विकल्पक प्रत्यक्षके हो जाने पर भी जब तक सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं हो जाता तब तक निर्विकल्पकमें प्रमाणता नहीं आ सकती।

बौद्ध सन्निकर्षको प्रमाण नहीं मानते हैं, क्योंकि सन्निकर्षके रहनेपर भी ज्ञानकी अपेक्षा रहती है। इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धका नाम सन्नि-

भी तत्त्वकी सत्ता नहीं है। अर्थात् केवल शून्य ही तत्त्व है। अनेकान्त शासनको ठीकसे न समझ सकनेके कारण ही ये सब एकान्तवादको मान रहे हैं। यद्यपि एकान्तवादी यथार्थमें आप्त नहीं हैं, फिर भी ये लोगोंको दिखाना चाहते हैं कि हम आप्त हैं। इसीलिये ये आप्तके अभिमानवश होकर अपने आप भीतर ही भीतर अभिमानरूपी अग्निसे जल रहे हैं। इन्होंने एकान्तको ही अपना इष्ट तत्त्व मान लिया है। किन्तु जब एकान्तकी परीक्षाकी जाती है तो उसमें प्रत्यक्षसे बाधा आती है। प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा यह भलीभाँति प्रतीत होता है कि कोई भी तत्त्व एक धर्मात्मक नहीं है, किन्तु अनेक धर्मात्मक है।

इस बातको सम्पूर्ण संसार अच्छी तरहसे जानता है कि बहिरङ्ग और अन्तरङ्गमें अनेकान्तात्मक वस्तुका साक्षात्कार होता है। इसीकारण वस्तुको एकधर्मात्मक माननेमें प्रत्यक्षसे बाधा आती है। चेतन आत्मा अन्तरङ्ग तत्त्व है और घट, पटादि बहिरंग तत्त्व हैं। अन्तरङ्ग या बहिरङ्ग ऐसा कोई भी तत्त्व नहीं है जो केवल सत्‌रूप ही हो या असत्‌रूप ही हो, जो नित्यरूप ही हो या अनित्यरूप ही हो। किन्तु प्रत्येक तत्त्व सत् और असत्, नित्य और अनित्य, इस प्रकार उभयरूप है। सत् असत्‌का निराकरण नही करता, किन्तु असत्‌की अपेक्षा रखता है। नित्य अनित्यका और अनित्य नित्यका निराकरण नहीं करता किन्तु एक दूसरेकी अपेक्षा रखता है। प्रत्येक तत्त्व एकरूप भी है और अनेकरूप भी है। द्रव्यकी अपेक्षासे आत्मा एक है, और ज्ञान, दर्शन सुख आदिकी अपेक्षासे अनेक है। मिट्टीद्रव्यकी अपेक्षासे घट एक है, और वर्ण, आकार आदिकी अपेक्षासे अनेक है। चित्रज्ञानकी तरह।

चित्राद्वैतवादी एक मत है जो ज्ञानको चित्राकार मानता है। चित्राकारका अर्थ है कि ज्ञानमें नील, पीत आदि अनेक आकार पाये जाते हैं जैसे कि चितकबरी गौ आदिमें अनेक रंग पाये जाते हैं। अनेक आकार होनेपर भी ज्ञानकी एकतामें कोई विरोध नहीं आता। आकारोंकी अपेक्षासे ज्ञान अनेकरूप है, और ज्ञानकी अपेक्षासे एकरूप। यही बात आत्मा आदि तत्त्वोंके विषयमें है। ज्ञान, दर्शन, सुख आदिकी अपेक्षासे आत्मा अनेकरूप है और आत्मद्रव्यकी अपेक्षासे एकरूप। चित्रज्ञानाद्वैतवादी यह नहीं कह सकता कि सुखरूप आत्मासे ज्ञानरूप आत्मा भिन्न है और इस कारण वह एक नहीं है। क्योंकि ऐसी स्थितिमें नीलरूप आकारसे पीतरूप आकारको भिन्न होनेके कारण चित्रज्ञान भी अनेकरूप सिद्ध नहीं होगा। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि आत्मा एक रूप ही है, अनेक-

बौद्धोंका उक्त कथन ठीक नहीं है। सुखादिकी उत्पत्ति सर्वथा उन्हीं कारणोंसे नहीं होती जिनसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। सुखकी उत्पत्ति सातावेदनीयके उदयसे होती है और ज्ञानकी उत्पत्ति ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होती है। इसलिये दोनोंकी उत्पत्तिके कारणोंमें भिन्नता है। फिर भी दोनोंकी उत्पत्तिके कारणोंमें कथंचित् अभिन्नता होनेसे दोनोंमें एकता मानी जाय तो रूप, आलोक आदिको भी ज्ञानरूप मानना चाहिये। इसी प्रसंगमें किसी दार्शनिकने कहा भी है—

तदतद्रूपिणो भावास्तदतद्रूपहेतुजाः ।
तद्रूपादि किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम् ॥

ज्ञानकी उत्पत्ति रूप, आलोक आदिकी सहायतासे होती है। रूप ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है, और रूपकी उत्पत्तिका भी कारण है। इसलिये रूपको भी ज्ञानरूप मानना चाहिये। क्योंकि दोनोंकी उत्पत्तिके कारणमें कथंचित् (रूपकी अपेक्षासे) अभेद है। इसप्रकार ज्ञान और सुखादि सर्वथा एक नहीं हैं। चेतनत्वकी अपेक्षासे वे एक हैं, किन्तु अपने कार्य, स्वरूप आदिकी अपेक्षासे उनमें अनेकता भी है।

नैयायिक-वैशेषिक कहते हैं कि ज्ञानसे भिन्न होनेके कारण सुख आदि अचेतन हैं। उक्त कथन युक्तिसंगत नहीं है। सुख आदि चेतन आत्मासे अभिन्न होनेके कारण चेतन ही हैं, अचेतन नहीं। और आत्मामें चेतनता स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध होती है। आत्मा प्रमाता होनेसे भी चेतन है। घटादि अचेतन पदार्थ दूसरे पदार्थोंका ज्ञाता नहीं हो सकता। यह कहना ठीक नही है कि आत्मा स्वयं अचेतन होनेपर भी चेतनाके समवायसे चेतन प्रतीत होती है, क्योंकि जो वस्तु स्वयं अचेतन है उसमें चेतनाका समवाय भी नहीं हो सकता है। जैसे अचेतन आकाशमें चेतनाका समवाय नहीं हो सकता है। इसलिये आत्माको चेतन मानना आवश्यक है, और चेतन आत्मासे अभिन्न होनेके कारण सुखादि भी चेतन हैं।

जिसप्रकार अन्तरङ्ग तत्त्व (आत्मा) एकानेकात्मक है, उसीप्रकार बहिरंग तत्त्व (पुद्गलादि) भी एकरूप और अनेकरूप है। पुद्गलस्कन्धकी अपेक्षासे घट एक है। किन्तु उसी घटमें वर्ण, आकार आदि अनेक विशेषतायें पायी जाती हैं। अतः वही घट अनेकरूप भी है। पुद्गल परमाणुओंकी अपेक्षासे भी घट अनेकरूप है।

बौद्धोंका मत है कि अवयवीरूप (स्कन्धरूप) कोई वस्तु नहीं है, केवल परमाणुओंका ही प्रत्यक्ष होता है। यद्यपि एक परमाणुका दूसरे

इच्छासे किसी विषयपर जो वाद-विवाद होता है, वह विजिगीषु कथा है। विजिगीषु कथाको वाद भी कहते हैं। यदि कोई ऐसा कहता है कि शास्त्रमें प्रतिज्ञाका प्रयोग किया जा सकता है, किन्तु वादमें प्रतिज्ञाका प्रयोग ठीक नहीं है, तो उसका कहना अयुक्त है। क्योंकि यदि वादमें प्रतिज्ञाका प्रयोग अनुपयुक्त है, तो शास्त्रमें भी प्रतिज्ञाका प्रयोग अनुपयुक्त होना चाहिये, क्योंकि तत्त्वका निर्णय तो दोनोंमें समानरूपसे किया जाता है। शास्त्रमें आचार्य मन्दमति वाले शिष्योंके उपकार तथा समझानेकी दृष्टिसे प्रतिज्ञाका प्रयोग करते हैं। यही बात वादमें भी है। वादमें वाद-विवाद करनेके इच्छुक मन्दमति वाले न हों, ऐसी बात नहीं है। किन्तु वादमें भी मन्दमति वाले विजिगीषु होते हैं। अतः उनको पदार्थका ठीक-ठीक ज्ञान करानेके लिए प्रतिज्ञाका प्रयोग अरना आवश्यक है।

बौद्ध हेतुके तीन रूप मानते हैं—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति। हेतुका पक्षमें रहना पक्षधर्मत्व है। सपक्षमें हेतुका सद्भाव होना सपक्षसत्त्व है। विपक्षमें हेतुका न रहना विपक्षव्यावृत्ति है। जहाँ साध्य सिद्ध किया जाता है उस स्थानका नाम पक्ष है। पक्षके अतिरिक्त अन्यत्र जहाँ-जहाँ साध्य पाया जाता है वह सब सपक्ष है। जहाँ सर्वदा साध्यका अभाव पाया जाता है वह विपक्ष है। 'इस पर्वतमें वह्नि है, धूम होनेसे,' इस अनुमानमें वह्नि साध्य है, धूम हेतु है, पर्वत पक्ष है, रसोईघर सपक्ष है, और सरोवर विपक्ष है। बौद्ध साध्यकी सिद्धिके लिए त्रिरूप हेतुका प्रयोग करके उसका समर्थन करते हैं। हेतुमें असिद्ध आदि दोषोंका परिहार करना अथवा हेतुकी साध्यके साथ व्याप्ति सिद्ध करके पक्षमें हेतुका सद्भाव बतलाना हेतुका समर्थन कहलाता है।

बौद्ध हेतुके तीन भेद मानते हैं—स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि। 'यत्सत् तत्सर्वं क्षणिकं यथा घटः, संश्च शब्दः'। 'जो सत् होता है वह क्षणिक होता है, जैसे घट। शब्द भी सत् है।' इस अनुमानमें क्षणिकत्व साध्य है और सत्त्व स्वभाव हेतु है। सत्त्व हेतुका समर्थन इस प्रकार होगा। क्षणिक पदार्थमें ही सत्त्व पाया जाता है, अक्षणिक (नित्य)में नहीं। क्योंकि अक्षणिक पदार्थमें अर्थक्रिया नहीं हो सकती है। नित्य पदार्थ न तो क्रमसे काम कर सकता है, और न युगपत्। नित्य पदार्थमें अर्थक्रिया न होनेके कारण सत्त्वका अभाव निश्चित है। अतः सत्त्वकी व्याप्ति क्षणिकत्वके साथ ही है। यह स्वभाव हेतुका समर्थन है। 'पर्वतोऽयं वह्निमान्

से यदि एक भी कम हो तो न्यून नामक निग्रहस्थान होता है, ऐसा न्याय-सूत्रमें कहा गया है। इसलिये प्रतिज्ञा तथा हेतुके प्रयोगमें समान तर्क पाया जाता है। यदि हेतुका प्रयोग आवश्यक है तो प्रतिज्ञाका प्रयोग भी आवश्यक है। फिर भी यदि प्रतिज्ञाका प्रयोग करनेसे अतिरिक्त वचनके कारण असाधनाङ्गवचन (जो साधनका अंग नहीं है उसको कहना) नामक निग्रहस्थान होता है, तो शब्दमें क्षणिकत्व सत्त्व हेतुसे ही सिद्ध हो जाता है, फिर शब्दमें क्षणिकत्वकी सिद्धिके लिए उत्पत्तिमत्त्व, कृतकत्व आदि हेतुओंका प्रयोग करनेसे अतिरिक्त वचनके कारण वादीकी पराजय निश्चत है। कृतकत्व, प्रयत्नानान्तरीयकत्व इत्यादि हेतुओंमें 'क' वर्ण को अतिरिक्त वचन होनेसे भी पराजय होगी।

यदि यह नियम माना जाय कि अतिरिक्त वचन होनेसे असाधनाङ्ग वचन नामक निग्रहस्थानकी प्राप्ति होती है, और ऐसे निग्रहस्थानसे वादीकी पराजय होती है, तो शब्दमें क्षणिकता सिद्ध करनेके लिये सत्त्व, उत्पत्तिमत्त्व, कृतकत्व आदि अनेक हेतुओंके प्रयोगके कारण अतिरिक्त वचन होनेसे स्वयं बौद्धोंकी पराजय होगी। 'अनित्यः शब्दः सत्त्वात्' इस प्रकार सत्त्व हेतुके प्रयोगसे ही शब्दमें क्षणिकत्व सिद्ध हो जाता है। पुनः क्षणिकत्वकी सिद्धिके लिये 'उत्पत्तिमत्त्वात्' 'कृतकत्वात्' आदि हेतुओंका प्रयोग करना अतिरिक्त वचन है। 'यत् सत् तत्सर्वं क्षणिकं यथा घटः' इतना कहनेसे ही शब्दमें क्षणिकत्वकी सिद्धि हो जाती है, तब 'संश्च-शब्दः' इस प्रकार पक्षधर्मका कथन भी अतिरिक्त वचन है। तथा हेतुके प्रयोगसे ही जब काम चल सकता है, तब हेतुका समर्थन भी अक्तिरिक्त वचन है। उक्त अतिरिक्त वचनोंके प्रयोगसे असाधनाङ्ग वचन निग्रह-स्थान होनेके कारण वादीकी पराजय नियमसे होगी। अतः इस दोषको दूर करनेके लिये यह मानना आवश्यक है कि गम्यमान अर्थको कहनेके कारण यद्यपि प्रतिज्ञा आदिका प्रयोग अतिरिक्त वचन है, फिर भी प्रतिज्ञा का प्रयोग करनेसे असाधनाङ्गवचन नामक निग्रहस्थान नहीं होता है, और न इतने मात्रसे वादीकी पराजय होती है।

शंका—यदि अतिरिक्त वचनसे निग्रहस्थान नहीं होता है, तो अप्रस्तुत (जिसका प्रकरण न हो) वस्तुके प्रयोगसे भी निग्रहस्थान नहीं होगा। जैसे वाद-विवादके समय कोई नाटक करने लगे या ढोल बजाने लगे तो यह भी निग्रहस्थान नहीं होगा।

उत्तर—केवल अप्रस्तुत बातके प्रयोगके कारण वादीका निग्रह कभी नहीं होगा। वादी यदि अपने पक्षकी सिद्धि कर रहा है तो अन्य किसी

अज्ञानवश वस्तुको एक धर्मात्मक होनेकी कल्पना करते हैं। कोई कहता है कि वस्तु सत् ही है, तो कोई कहता है कि वस्तु असत् ही है। कुछ लोग मानते हैं कि वस्तु नित्य ही है, तो कुछ लोगोंकी धारणा है कि वस्तु अनित्य ही है। इस प्रकार वस्तुमें केवल एक धर्मको मानने वाले एकान्तवादी हैं। स्वमतमें अनुरागके कारण ये लोग एकान्तवादके आग्रहको नहीं छोड़कर स्वयं अपना अकल्याण तो कर ही रहे हैं, साथमें अन्य लोगोंका भी अहित कर रहे हैं। वस्तुतत्त्वको ठीक ठीन न समझनेके कारण एकान्तवादियोंको सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता है, और सम्यग्ज्ञानके अभावमें संसारके परिभ्रमणसे छूटना असंभव है।

एकान्तवादियोंके यहाँ कर्म, कर्मफल, वन्ध, मोक्ष, इहलोक, परलोक आदि कुछ भी नहीं वन सकता है। 'स्वपर वैरिपु'का अर्थ निम्न प्रकार भी किया गया है। पुण्य-पाप कर्म, कर्मफल, परलोक आदि स्व हैं, क्योंकि एकान्तवादियोंने इनको माना है। तथा अनेकान्त पर है, क्योंकि एकान्तवादियोंने अनेकान्तका निषेध किया है। ये लोग पर (अनेकान्त)के वैरी होनेके कारण स्व (कर्म आदि)के भी वैरी हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि अनेकान्तके अभावमें पुण्य-पाप कर्म आदिकी व्यवस्था नहीं हो सकती है। एकान्तवादमें क्रमसे या अक्रम (युगपत्)से कोई भी कार्य नहीं हो सकता है। क्रम और अक्रमकी व्याप्ति अनेकान्तके साथ है। एकधर्मात्मक वस्तुमें क्रम और अक्रमके अभावमें अर्थक्रिया नहीं हो सकती, और अर्थक्रियाके अभावमें कर्म आदिकी उत्पत्ति भी नहीं हो सकेगी। मन, वचन और कायकी क्रियासे कर्मका आगमन होता है। जव एकधर्मात्मक वस्तु न क्रमसे कार्य करती है और न अक्रमसे, तो क्रियाके अभावमें कर्मकी उत्पत्ति कैसे होगी। यही वात परलोक आदिके विपयमें जानना चाहिए। कर्मके अभावमें तप, जप आदिके अनुष्ठानसे भी कोई लाभ नहीं है। क्योंकि एकान्तवादमें तप आदिके करनेसे कर्मक्षय, मोक्ष आदिकी प्राप्ति संभव नहीं है। सत्त्वैकान्त, असत्त्वैकान्त नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त आदि एकान्तवादोंमें जप, तप आदिके अनुष्ठानसे पुण्यकर्म आदिकी उत्पत्ति होना असंभव है।

शंका—सत्त्वैकान्तवादी (जो पदार्थको सर्वथा सत् ही मानता है) के यहाँ कर्म, कर्मफल, मोक्ष आदिकी उत्पत्ति न हो, यह ठीक है, क्योंकि उसके यहाँ सव पदार्थ सर्वथा सत् हैं। और यह नियम है कि सत् वस्तुकी उत्पत्ति नहीं होती है। किन्तु असत्त्वैकान्तवादी (जो पदार्थको सर्वथा

सकता है। पूर्वक्षणके अनन्तर ही उत्तरक्षणकी उत्पत्तिका नियम भी नहीं बन सकता है। क्योंकि कालान्तरमें भी उत्तरक्षणकी उत्पत्ति हो सकती है। जिस प्रकार उत्तरक्षणवर्ती कालमें पूर्वक्षणका अभाव है, वैसे कालान्तरमें भी उसका अभाव है। अतः कालान्तरमें भी उत्तरक्षणकी उत्पत्ति संभव है।

शंका—कहीं कहीं पर कालान्तरमें भी कार्यकी उत्पत्ति देखी जाती है। चूहा और कुत्ताके काटने पर कुछ समय बाद विषका विकार देखा जाता है। तथा हाथमें राज्यसूचक रेखा जन्मके समय होती है और राज्य की प्राप्ति बहुत काल बाद होती है।

उत्तर—हम देखते हैं कि समर्थ कारणके रहने पर भी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है और कालान्तरमें स्वयं ही कार्यकी उत्पत्ति हो जाती है। फिर भी उस कार्यको चिरकाल पूर्ववर्ती कारणसे उत्पन्न माना जाता है तो नित्यैकान्तमें भी अर्थक्रिया क्यों नहीं होगी। जिस प्रकार क्षणिकैकान्तमें कारणका सदा अभाव है उसी प्रकार अक्षणिकैकान्तमें कारणका सदा सद्भाव है। यदि क्षणिकैकान्तमें कारणके अभावमें भी अर्थक्रिया होती है, तो अक्षणिकैकान्तमें भी कारणके सदा सद्भावमें अर्थक्रिया अवश्य होना चाहिये।

यदि क्षणवर्ती एक कारणसे स्वभावभेद न होने पर भी अनेक कार्योंकी उत्पत्ति हो जाती है, तो एक स्वभाव वाले नित्य पदार्थसे भी कार्यकी उत्पत्ति होनेमें कौन सा विरोध है। जैसे उत्पन्न हुये घटकी तरह सत्की उत्पत्ति होनेमें विरोध है वैसे आकाशपुष्पकी तरह असत्की उत्पत्तिमें भी तो विरोध है। पदार्थ नित्य होकर भी क्रमसे अनेक पर्यायोंको धारण कर सकता है। ऐसा माननेमें कोई विरोध नहीं है। जैसे योगाचारके मतमें एक क्षणिक ज्ञानमें ग्राहकाकार और ग्राह्याकार आदि कई आकार पाये जाते हैं, उसी प्रकार नित्य पदार्थमें भी अनेक स्वभाव हो सकते हैं। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि ज्ञानमें कोई आकार नहीं हैं। क्योंकि आकारके अभावमें ज्ञानमें शून्यता मानना पड़ेगी। किन्तु शून्यता और ज्ञानमें विरोध है। ज्ञान वस्तु है और शून्यता अभाव है। अतः ज्ञानमें आकार मानना आवश्यक है। यदि क्षणिक पदार्थ अपने कालमें ही कार्यको उत्पन्न करता है, तो कार्योंकी उत्पत्ति क्रमसे नहीं हो सकती है। तब सब कार्योंकी उत्पत्ति एक क्षणमें ही हो जाना चाहिये। यदि ऐसा माना जाय कि क्षणिक पदार्थ कालान्तरमें कार्यको उत्पन्न करता है, तो यहाँ दो विकल्प

घटका जो अभाव है, वही घटका प्रध्वंसाभाव है। एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें जो सदा अभाव रहता है वह अत्यन्ताभाव है। त्रिकालमें भी चेतन अचेतन नहीं हो सकता और अचेतन चेतन नहीं हो सकता। अतः चेतनका अचेतनमें और अचेतनका चेतनमें जो अभाव है, वह अत्यन्ताभाव है। घट और पटमें अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि घट और पट पर्यायके नष्ट हो जाने पर घटके परमाणु पटरूप हो सकते हैं और पटके परमाणु घटरूप। अतः घट और पटमें अत्यन्ताभाव न होकर अन्योन्याभाव है।

उक्त चार प्रकारके अभावोंमेंसे यदि अन्योन्याभाव न माना जाय तो सब पदार्थ सबरूप हो जाँयगे। एक पदार्थका अभाव दूसरे पदार्थमें न रहनेसे घट पटरूप हो जायगा और पट घटरूप हो जायगा। और यदि घट पटरूप है और पट घटरूप, तो घटका काम पटको भी करना चाहिये और पटका काम घटको भी करना चाहिये। किन्तु ऐसा कभी नहीं देखा गया। अतः अन्योन्याभावका सद्भाव मानना आवश्यक है।

प्रागभावके न माननेसे सब पदार्थ अनादि हो जाँयगे। आज जो घट उत्पन्न हुआ वह आज ही क्यों हुआ, इसके पहिले क्यों नहीं हुआ। इसका उत्तर यह है कि आज तक इस घटका प्रागभाव था। यदि प्रागभाव नहीं है तो अनादिकालसे ही घटका सद्भाव होना चाहिये। प्रागभावके अभावमें घटकी उत्पत्तिका कोई प्रश्न ही नहीं है। इस प्रकार प्रागभावके न मानने पर किसी भी पदार्थकी उत्पत्ति नहीं बनेगी और सब पदार्थोंको अनादि मानना पड़ेगा। किन्तु हम देखते हैं कि पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है, और कोई भी पदार्थ एकान्तरूपसे अनादि नहीं है। अतः प्रागभावका मानना आवश्यक है।

प्रध्वंसाभावके न माननेसे सब पदार्थ अनन्त हो जाँयगे और किसी भी पदार्थका अन्त नहीं होगा। घटमें पत्थर मारनेसे घट नष्ट हो जाता है, और घटका सद्भाव नहीं रहता। जब प्रध्वंसाभाव ही नहीं है, तो पत्थर मारने पर भी घट नहीं फूटेगा और घटका नाश नहीं होगा। इसी प्रकार अन्य पदार्थोंका भी नाश नहीं होगा। किन्तु हम देखते हैं कि पदार्थोंका अन्त होता है। कोई भी पदार्थ एकान्तरूपसे अनन्त नहीं है। अतः प्रध्वंसाभावका मानना आवश्यक है।

अत्यन्ताभावके न माननेसे चेतन अचेतन हो जायगा और अचेतन चेतन हो जायगा। पुद्गल चेतन नहीं है, और चेतन पुद्गल नहीं है।

प्रध्वंसाभाव न माननेपर बुद्धि आदि अनन्त हो जायेंगे और उनका कभी नाश नहीं होगा। तब पाँच भूत पाँच तन्मात्राओंसे उत्पन्न होते हैं, पाँच तन्मात्रा और ग्यारह इन्द्रियाँ अहंकारसे उत्पन्न होते हैं। और अहंकार बुद्धिमें तथा बुद्धि प्रकृतिमें लीन हो जाती है, इस प्रकार बुद्धि आदिका क्रम बतलाना व्यर्थ हो जायगा।

प्रकृति और पुरुषमें अत्यन्ताभावके न माननेपर प्रकृति और पुरुषमें कोई भेद नहीं रहेगा। तब दोनोंमें भेद बतलानेमें क्या लाभ है। दोनोंमें भेद इस प्रकार बतलाया गया है—

> त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
> व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥
>
> —सांख्यका० ११

व्यक्त और अव्यक्तमें सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण पाये जाते हैं, उनमें प्रकृति और पुरुषका विवेक नहीं रहता है, वे पुरुषके भोग्य होते हैं, सामान्य तथा अचेतन होते हैं, और उनका स्वभाव उत्पत्ति करनेका है। पुरुषका लक्षण उक्त लक्षणसे नितान्त भिन्न है। पुरुषमें तीन गुण नहीं पाये जाते हैं, भेद विज्ञान पाया जाता है, पुरुष किसीका भोग्य नहीं है, विशेष तथा चेतन है, पुरुषका स्वभाव किसीकी उत्पत्ति करनेका नहीं है। पुरुष कारण रहित, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, निरवयव और स्वतंत्र है। इस प्रकार अन्योन्याभाव आदिके न माननेसे सांख्यमतमें किसी भी तत्त्वकी व्यवस्था नहीं हो सकती है।

यदि सांख्य व्यक्त और अव्यक्तमें अन्योन्याभावको व्यक्त और अव्यक्तस्वरूप, प्रकृति और पुरुषमें अत्यन्ताभावको प्रकृति और पुरुषस्वरूप, बुद्धि आदिके प्रागभावको बुद्धि आदिके कारणरूप और पञ्च महाभूतोंके प्रध्वंसाभावको तन्मात्रारूप मान लेता है, तो ऐसा मानना ठीक है। क्योंकि अभाव कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, जैसा कि नैयायिक मानते हैं, किन्तु एक पदार्थका अभाव दूसरे पदार्थरूप होता है, जैसे कि घटका अभाव भूतल स्वरूप है। किन्तु ऐसा माननेसे सांख्यका भावैकान्त नहीं बनेगा।

इसी प्रकार पर्याय रहित द्रव्यैकान्त माननेपर एक ही वस्तु सब रूप हो जायगी। और ऐसा होनेपर प्रकृति और पुरुषमें भी कोई विशेषता नहीं रहेगी। क्योंकि प्रकृति और पुरुषमें सत्ताकी दृष्टिसे ऐक्य है। तब केवल सत्तामात्र (ब्रह्म) तत्त्व की ही सत्ता रहेगी। किन्तु सन्मात्र ब्रह्म-

ग्रहण हो तो क्रमशः अनन्त स्वरूप अभावोंके ग्रहण करनेमें ही शक्ति क्षीण हो जानेसे पदार्थको देखनेका कभी अवसर ही प्राप्त न होगा। अर्थात् यदि प्रत्यक्ष अभावका ग्रहण करता है तो अभावका ही ग्रहण करता रहेगा और भावको ग्रहण करनेका कभी अवसर ही न मिलेगा। इसलिये प्रत्यक्ष अभावको न जानकर केवल सन्मात्र ब्रह्मको ही विषय करता है।

अनुमानके द्वारा भी अभावका ज्ञान नहीं हो सकता है। अभावका कोई स्वभाव या कार्य नहीं है। अतः स्वभाव हेतु और कार्य हेतुके द्वारा अभावका अनुमान नहीं किया जा सकता। अनुपलब्धि हेतुसे तो उसका अभाव ही सिद्ध होगा। इस प्रकार जब किसी प्रमाणसे अभावकी सिद्धि नहीं होती है, तब इतरेतराभावकी सिद्धि कैसी होगी। अतः इतरेतराभावके द्वारा भी पदार्थोंमें भेद सिद्धि नहीं होती है।

कुछ लोग बुद्धि आदि नाना कार्योंको देखकर नाना वस्तुओंके सद्भावको सिद्ध करते हैं। यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि वस्तुओंमें भेद न होनेपर भी बुद्धि आदि नाना कार्य देखे जाते हैं। जैसे एक नर्तकी है, और अनेक पुरुष एक ही समयमें उसके नाच को देख रहे हैं। वहाँ नर्तकीके एक होनेपर भी एक ही समयमें नाना पुरुषोंमें नाना प्रकारकी बुद्धि, आदि अनेक कार्य देखे जाते हैं। यदि ऐसा माना जाय कि नर्तकीमें नाना शक्तियाँ रहनेके कारण बुद्धि आदि नाना कार्य होते हैं, तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि नाना शक्तियोंकी सिद्धि करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है। अतः बुद्धि आदि नाना कार्योंसे नाना वस्तुओंकी सिद्धि नहीं हो सकती है। पदार्थोंमें न देशभेद है, न कालभेद है, और न स्वभाव भेद है, फिर भी अविद्याके द्वारा देश, काल और स्वभाव भेदका मिथ्या व्यवहार होता है, जिसके निमित्तसे बौद्ध क्षणिक और भिन्न-भिन्न सन्तान वाले स्कन्ध मानते हैं, तथा नैयायिक आदि अक्षणिक और एक सन्तान वाले स्कन्ध मानते हैं। वेदान्तमें अविद्याकी सत्ता भी पारमार्थिक नहीं है, काल्पनिक है। अतः अविद्याके माननेसे द्वैत सिद्धिका दोष नहीं आता है। इस प्रकार वेदान्तमतमें ब्रह्मकी ही एकमात्र सत्ता मानी गयी है।

वेदान्तवादियोंका यह कथन कि सन्मात्र परम ब्रह्म ही एक अद्वितीय तत्त्व है, युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता है। सब लोग प्रत्यक्षसे घट, पट आदि भिन्न-भिन्न पदार्थोंकी सत्ताको उपलब्ध करते हैं। यदि घट, पट

कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निह्नवे ।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥१०॥

प्रागभावके निराकरण करनेपर घट आदि कार्यद्रव्य अनादि हो जायगा और प्रध्वंसाभावके निराकरण करनेपर कार्यद्रव्य अनन्तताको प्राप्त होगा ।

जो द्रव्य कारणोंसे उत्पन्न होते हैं वे कार्यद्रव्य कहलाते हैं। घट मिट्टी आदि कारणोंसे उत्पन्न होता है, और पट तन्तु आदि कारणोंसे उत्पन्न होता है, इसलिये घट, पट आदि कार्यद्रव्य हैं। घट अनादि नहीं है, किन्तु सादि है। घटकी उत्पत्तिके पहले, घटका प्रागभाव रहता है, और घटके उत्पन्न होते ही वह समाप्त हो जाता है। एक घट आज उत्पन्न हुआ। उसके विषयमें हम कह सकते हैं कि वह घट आजसे पहिले नहीं था, क्योंकि आजके पहिले घटका प्रागभाव था। जब प्राग-भावकी सत्ता ही नहीं है, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यह घट आज-से पहिले नहीं था। जिस घटको हम आज देख रहे हैं उस घटका सद्भाव अनादि कालसे मानना चाहिए। क्योंकि घटका प्रागभाव कभी रहा ही नहीं। इस प्रकार प्रागभावके न माननेपर कार्यद्रव्यको अनादि अवश्य मानना पड़ेगा ।

प्रध्वंसाभावके अभावमें कार्यद्रव्यमें अनन्तताका दोष भी तर्क संगत है। घटके फूट जानेपर घटका अन्त हो जाता है। घटके फूटनेका नाम ही घटका प्रध्वंसाभाव है। जब प्रध्वंसाभाव ही नहीं है तो घटका अन्त कैसे होगा, और अन्तके अभावमें घट अनन्त होगा ही। घटके फूटनेपर घटका सदाके लिए प्रध्वंसाभाव हो जाता है, और वह घट कभी उपलब्ध नहीं होता है। किन्तु प्रध्वंसाभावके अभावमें जो घट आज उत्पन्न हुआ है, वह कभी फूटेगा ही नहीं और सदा उपलब्ध होता रहेगा। इस प्रकार प्रध्वंसाभावके न माननेपर कार्यद्रव्योंको अनन्त (अविनाशी) होनेसे कोई नहीं रोक सकेगा ।

चार्वाक मतके अनुसार प्रागभावादिका व्यवहार केवल काल्पनिक है। लोग केवल रूढिके कारण पृथिवी आदि भूतोंमें प्रागभाव आदिका व्यवहार करते हैं। यथार्थमें अभावकी कोई सत्ता नहीं है।

यदि चार्वाक प्रागभाव और प्रध्वंसाभावको नहीं मानता है, तो कार्य-द्रव्यको अनादि और अनन्त होनेसे कैसे रोक सकेगा। ऐसा नहीं है कि चार्वाक कार्यद्रव्यको न मानता हो। चार्वाक पृथिवी आदि भूतोंसे कार्यो-

सांख्यके अनुसार घटकी और मीमांसकके अनुसार शब्दकी उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु अभिव्यक्ति होती है, और अभिव्यक्तिके लिये ही पुरुषका व्यापार होता है। किन्तु घट और शब्दकी अभिव्यक्तिकी कल्पना प्रमाण सम्मत नहीं है। यदि पुरुषके व्यापारके पहिले घट और शब्दका सद्भाव किसी प्रमाणसे सिद्ध होता, तो पुरुषके व्यापारसे उनकी अभिव्यक्ति बतलाना ठीक था। परन्तु पुरुषके व्यापारके पहिले घट और शब्दके सद्भावको सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण न होनेसे उनकी अभिव्यक्तिकी कल्पना असंगत ही प्रतीत होती है।

थोड़ी देरके लिये मान भी लिया जाय कि घट और शब्दकी अभिव्यक्ति होती है, फिर भी सांख्य और मीमांसकको अभिव्यक्तिका प्रागभाव तो मानना ही पड़ेगा। अर्थात् घट और शब्दकी अभिव्यक्तिका पहिले प्रागभाव था और इस समय प्रागभावके नाश होने पर उनकी अभिव्यक्ति हो गयी। यदि माना जाय कि तालु आदिके व्यापारसे शब्दकी असत् अभिव्यक्ति की जाती है, और कुम्भकारके व्यापारसे घटकी असत् अभिव्यक्ति की जाती है, तो ऐसा माननेसे घट तथा शब्दकी उत्पत्ति मान लेना ही श्रेयस्कर है। और अभिव्यक्तिके प्रागभावके स्थानमें घट तथा शब्दका प्रागभाव मान लेना चाहिए। ऐसा माननेसे प्रमाण विरुद्ध अभिव्यक्तिकी कल्पना भी नहीं करना पड़ेगी।

मीमांसकोंके अनुसार शब्द अपौरुषेय है, अतः पुरुषके द्वारा शब्दकी उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु अभिव्यक्ति ही होती है। और अभिव्यक्तिको पुरुषकृत होनेसे अविद्यमान अभिव्यक्तिके होनेमें कोई विरोध नहीं है। यह मत भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि अभिव्यक्ति शब्दसे अभिन्न है या भिन्न। प्रथम पक्षमें अपौरुपेय शब्दसे अभिन्न अभिव्यक्ति भी अपौरुषेय ही होगी। और यदि अभिव्यक्ति पौरुषेय है, तो उससे अभिन्न शब्द भी पौरुपेय होगा। द्वितीय पक्षमें अभिव्यक्तिको शब्दसे भिन्न माननेमें भी कई विकल्प होते हैं। यदि श्रवणज्ञानोत्पत्तिका नाम अभिव्यक्ति है, तो श्रवणज्ञानोत्पत्ति पहिले थी या नहीं। यदि पहिले थी तो विद्यमान अभिव्यक्ति पुरुषकृत कैसे होगी। और यदि श्रवणज्ञानोत्पत्तिरूप अभिव्यक्ति पहले नहीं थी, तो बादमें शब्दमें श्रवणज्ञानोत्पत्तिरूप अभिव्यक्तिके आनेसे अनित्यताका प्रसंग प्राप्त होता है। श्रवणज्ञानोत्पत्तिरूप योग्यताको अभिव्यक्ति माननेमें भी पूर्वोक्त दोष आते हैं। योग्यता पहिले थी या नहीं, इत्यादि विकल्पों द्वारा इस पक्षमें भी वही दोष दिये जा सकते हैं। यदि

घटको व्यङ्ग्य तथा दण्ड, चक्र आदिको व्यञ्जक माननेमें कोई दोष नहीं है। सांख्यका उक्त कथन भी युक्ति विरुद्ध है। यदि घट व्यापक है, और दण्ड, चक्र आदि उसके व्यञ्जक हैं, तो चक्र आदिको अपने भ्रमण आदि व्यापारका भी व्यञ्जक मानिए, उत्पादक नहीं। व्यापार की उत्पत्ति माननेमें अनवस्था दोष भी आता है। क्योंकि एक व्यापार की उत्पत्तिके लिये दूसरे व्यापारकी आवश्यकता होगी और दूसरे व्यापार की उत्पत्तिके लिये तीसरे व्यापारकी। इस प्रकार इस क्रमका कहीं अन्त नहीं होगा। अतः व्यापारकी अभिव्यक्ति माननेमें अनवस्था दोषका प्रसंग नहीं होगा। क्योंकि चक्र आदि (व्यंजक)के होनेपर भ्रमण आदि व्यापार (व्यङ्ग्य) की उपलब्धि होनेमें कोई दोष नहीं रहेगा। यहाँ एक प्रश्न यह भी होता है कि चक्र आदिसे चक्र आदिका व्यापार भिन्न है या अभिन्न। यदि भिन्न है, तो व्यापारसे ही कार्यकी सिद्धि हो जायगी। अतः कार्यकी सिद्धिके लिए कारणोंकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। और यदि कारणोंसे व्यापार अभिन्न है, तो कारणोंके समान उनके व्यापारको भी सदा विद्यमान मानना पड़ेगा। यदि व्यापार पहले नहीं था और बादमें उत्पन्न हुआ तो व्यापारका प्रागभाव मानना आवश्यक है। ऐसा माननेपर जिस प्रकार पहले अविद्यमान व्यापारकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार व्यापारसे अभिन्न चक्र आदिकी भी उत्पत्ति होती है, तथा चक्र आदिसे घटकी भी उत्पत्ति होती है, ऐसा माननेमें कौनसा विरोध है।

सांख्यके अनुसार घट आदि पदार्थ प्रधानके परिणाम (पर्याय) हैं। यहाँ भी प्रश्न होता है कि घट आदि प्रधानसे अभिन्न हैं या भिन्न। यदि अभिन्न हैं, तो सब परिणामोंकी उत्पत्ति क्रमसे न होकर एक साथ हो जाना चाहिए। जब प्रधान क्रम रहित है, तो उससे अभिन्न घट आदि परिणामोंको भी क्रम रहित होना चाहिए। और यदि घट आदि परिणाम प्रधानसे अभिन्न हैं, तो प्रधान के ये परिणाम हैं, ऐसा कहना ही असंभव है। न तो प्रधान परिणामोंका कोई उपकार करता है, और न परिणाम प्रधानका कोई उपकार करते हैं। अतः उन दोनोंमें किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं बन सकता है, और सम्बन्धके अभावमें यह कथन भी नहीं हो सकता है कि ये परिणाम प्रधान के हैं। इसलिए सांख्यके यहाँ भी घट आदि व्यङ्ग्य नहीं हो सकते हैं, किन्तु कार्य ही हैं। फिर भी यदि सांख्य घट आदिका प्रागभाव न मानकर घट आदिको अनादि माने, तो घट आदिकी अभिव्यक्तिको भी अनादि मानना चाहिए। और जब घट

कारणोंकी कोई आवश्यकता नहीं है। और यदि शब्द स्वयं असमर्थ है, तो सहकारी कारणोंके द्वारा शब्दके स्वरूपका विघात अवश्यंभावी है। सहकारी कारणोंके द्वारा शब्दमें अश्रावण स्वरूपका विघात और श्रावण स्वरूपकी उत्पत्ति होनेपर ही शब्द सुनाई पड़ता है। यदि सहकारी कारण शब्दके स्वभावमें कुछ भी परिवर्तन नहीं करते हैं, तो अकिंचित्कर सहकारी कारणोंके माननेसे लाभ ही क्या है।

मीमांसक वर्णोंको नित्य और व्यापक मानते हैं। जब वर्ण नित्य और व्यापक हैं, तो उनको क्रमसे सुनाई नहीं पड़ना चाहिए, किन्तु सब वर्णोंको सर्वत्र एक साथ सुनाई पड़ना चाहिये। ऐसा कोई देश और ऐसा कोई काल नहीं है जहाँ वर्ण न हों। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है कि जहाँ-जहाँ वर्णोंकी अभिव्यक्ति होती है वहाँ-वहाँ वर्ण सुनाई पड़ते हैं। क्योंकि वर्णोंकी अभिव्यक्तिमें ऐसा नियम नहीं हो सकता है कि इस वर्णकी अभिव्यक्ति यहाँ हुई और इस वर्णकी अभिव्यक्ति यहाँ नहीं हुई, तथा इस कालमें अभिव्यक्ति हुई और इस कालमें नहीं हुई। वर्ण नित्य और व्यापक हैं, इसलिये एक देश और एक कालमें अभिव्यक्ति होनेपर सब देशों और सब कालोंमें अभिव्यक्ति होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि सब वर्ण एक ही इन्द्रिय (कर्ण)के द्वारा सुने जाते हैं। इसलिये जहाँ एक वर्ण 'क' सुनाई पड़ता है, तो वहीं पर अन्य वर्ण 'ख' 'ग' आदि भी उप-स्थित हैं, अतः सबको एक साथ सुनाई पड़ना चाहिए। जैसे कि आँखसे एक पदार्थके देखनेपर उस देशमें स्थित अन्य पदार्थ भी दिख जाते हैं। और यदि एक वर्ण सुनने के कालमें अन्य वर्ण भी सुनाई पड़ें तो कान वर्णोंकी भर-भर आवाज ही सुनाई पड़ेगी, और किसी भी वर्णका पृथ पृथक् ज्ञान नहीं हो सकेगा। और ऐसी स्थितिमें पदार्थका बोध होना असंभव हो जायगा।

वर्णोंकी अभिव्यक्ति पक्षमें जो युगपत् श्रुतिका दोष आता है, वह उत्पत्ति पक्षमें नहीं आता। यद्यपि शब्दोंका उपादान कारण पुद्गल सर्वत्र पाया जाता है, और बहिरंग सहकारी कारण तालु आदिका सद्भाव भी भी नियमसे पाया जाता है, किन्तु अन्तरङ्ग सहकारी कारण वक्ताके ज्ञानके क्रमकी अपेक्षासे वर्णोंकी क्रमसे उत्पत्ति होती है, एक साथ नहीं। यही बात वर्णोंकी श्रुतिके सम्बन्धमें है। शब्दोंकी श्रुतिका मुख्य कारण श्रोताका क्रमिक ज्ञान है। अतः श्रोताके क्रमवर्ती ज्ञानकी अपेक्षासे शब्दों-की भी श्रुति क्रमसे होती है, युगपत् नहीं।

कान भर जाना चाहिए। मूर्तीक शब्दको एक श्रोताके कानमें घुस जाने पर अन्य श्रोताओंको सुनाई नहीं पड़ना चाहिए। शब्दका कभी स्पर्श नहीं होता है और वह निश्छिद्र भवनके भीतरसे भी बाहर निकल जाता है। इत्यादि कारणोंसे शब्द पौद्गलिक नहीं हो सकता है।

उत्तर—शब्दको पौद्गलिक माननेमें चक्षुके द्वारा उपलब्धि आदि जो दोष दिये गये हैं, वे युक्तिसंगत नहीं हैं। गन्धके परमाणु भी पौद्गलिक हैं, किन्तु उनकी चक्षुके द्वारा उपलब्धि कभी नहीं होती है। उनका विस्तार, विक्षेप एवं प्रतिघात भी नहीं होता है। गन्ध-परमाणुओंके द्वारा घ्राणपूरण (नाकका भर जाना) नहीं होता है, तथा गन्ध-परमाणुओंको एक घ्राता (सूँघनेवाला) की नाकमें घुस जानेपर अन्य घ्राताओंको उनकी अनुपलब्धि नहीं होती है। यह कहना ठीक नहीं है कि शब्दका स्पर्श नहीं होता है। जब किसी शब्दका उच्चारण जोरसे किया जाता है, या बादल, तोप आदिकी तेज गड़गड़ाहट होती है, तो श्रोताके कानमें शब्द ऐसे लगता है जैसे कोई कानमें थप्पड़ मार रहा हो। तथा भवन आदिके द्वारा शब्दका उपघात भी देखा जाता है। इत्यादि कारणोंसे यह सिद्ध होता है कि शब्दमें स्पर्श पाया जाता है। शब्दका सूक्ष्म परिणमन होनेके कारण निश्छिद्र भवनसे उसके निकलनेमें भी कोई विरोध नहीं है। यदि ताम्रके घटमें जल या तेल भर कर और घटका मुख बन्द करके रख देने पर भी उसके अन्दरसे तेल या जल घटके ऊपर निकल आता है। यह बात घटके ऊपर स्निग्धता देखनेसे ज्ञात होती है। इसी प्रकार किसी घटके मुखको बन्द करके जलमें डाल देनेपर उसके अन्दर जलका प्रवेश हो जाता है। क्योंकि मुखके खोलने पर भीतर शीत स्पर्श पाया जाता है। यही बात शब्दके विषयमें भी है। इसलिए शब्दको पौद्गलिक माननेमें कोई बाधा नहीं है।

इस प्रकार पौद्गलिक शब्दका स्वभाव तालु आदिके व्यापारके पहले और बादमें सुनाई पड़ने योग्य नहीं है, किन्तु तालु आदि व्यापार-के समय ही वह सुनाई पड़ता है। इस कारण शब्दका प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव मानना आवश्यक है। यदि शब्दका प्रागभाव और प्रध्वंसा-भाव नहीं है, तो शब्दको कूटस्थनित्य होनेके कारण न तो उसमें क्रमसे अर्थक्रिया हो सकती है और न युगपत्। और अर्थक्रियाके अभावमें शब्द निःस्वभाव ही सिद्ध होगा। अतः यह सिद्ध होता है कि शब्द अनादि और अनन्त नहीं है, किन्तु सादि और सान्त है।

अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभावको न मानने वालोंके मतमें दोषोंको

मानना आवश्यक है। यदि ज्ञानमें दोनों आकारोंकी परस्परमें व्यावृत्ति न हो, तो दोनोंमें एक ही आकार शेष रहेगा, और दूसरे आकारके अभावमें एक आकारका भी सद्भाव नहीं बन सकेगा। क्योंकि ग्राहकाकारके बिना ग्राह्याकार और ग्राह्याकारके बिना ग्राहकाकार नहीं हो सकता है।

ज्ञानाद्वैतवादी कहता है—

नान्योऽनुभाव्यो बुद्धयास्ति तस्या नानुभवोऽपरः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते॥ —प्रमाणवा० ३।३२७

ज्ञानका न तो कोई ग्राहक है, और न ग्राह्य। अतः ग्राह्य-ग्राहकभावसे रहित ज्ञान स्वयं प्रकाशित होता है। ऐसा कहनेका तात्पर्य यह है कि जब ज्ञानमें दो आकार ही नहीं हैं तब उनकी परस्परमें व्यावृत्ति कैसे हो सकती है। किन्तु ज्ञानको ग्राह्याकार और ग्राहकाकारसे रहित माननेपर भी ज्ञानमें उन दोनों आकारोंसे व्यावृत्ति तो मानना ही पड़ेगी। ज्ञानमें दो अकार न माननेपर भी उनकी व्यावृत्ति माननेसे मुक्ति नहीं मिल सकती है। इसी प्रकार चित्रज्ञानको माननेवालोंके यहाँ भी ज्ञानके लोहित, नील, पीत आदि आकारोंको परस्परमें व्यावृत्ति मानना आवश्यक है। चित्रज्ञानके विषयभूत लाल, नील, पीत आदि पदार्थोंकी भी परस्परमें व्यावृत्ति है। यदि चित्रज्ञानके अनेक आकारोंकी परस्परमें व्यावृत्ति न हो, तो चित्ररूपसे उसका प्रतिभास ही नहीं हो सकता है। और एक व्यवृत्तिके अभावमें चित्रज्ञानका आकार एक हो जायगा। और चित्रज्ञानके आकारका चित्ररूपसे प्रतिभास नहीं हो सकता है। पदार्थोंमें भी भेद आकारोंमें भेद न होनेके कारण चित्रज्ञानके विषयभूत पदार्थोंमें भी भेद सिद्ध नहीं होगा। अतः चित्रज्ञानके अनेक आकारोंकी परस्परमें तथा चित्रज्ञानसे व्यावृत्ति है, जैसे कि चित्र पटके नाना रंगोंकी परस्परमें तथा चित्र पटसे व्यावृति है। चित्रज्ञान एक है, और चित्रज्ञानके आकार अनेक हैं। चित्र पट भी एक है और उसके रंग अनेक हैं। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि अनेक नीलादि आकार ही हैं, एक चित्रज्ञान नहीं है, अथवा अनेक रक्त आदि वर्ण ही हैं, एक चित्र पट नहीं है। क्योंकि ऐसा कहनेपर इसके विपरीत भी कहा जा सकता है कि एक चित्रज्ञान ही है, उसके अनेक नीलादि आकार नहीं हैं, अथवा एक चित्र पट ही है, उसके अनेक रंग नहीं हैं।

यहाँ एक शंका हो सकती है कि यदि एक ही ज्ञान या वस्तु है तो उसका नानारूपसे प्रतिभास क्यों होता है? इसका उत्तर इस प्रकार है।

वास्तविक सम्बन्ध मानना आवश्यक है। सम्बन्धके अभावमें संसारका काम ही नहीं चल सकता है।

नाना सम्बन्धियोंके भेदसे प्रत्येक पदार्थ अनेक स्वभाव वाला है, और वह अनेक क्षण तक ठहरता है। बौद्धोंके द्वारा माने गये निरन्वय क्षणिक पदार्थ द्वारा कुछ भी अर्थक्रिया नहीं हो सकती है। जो क्षण पूर्ण-रूपसे नष्ट हो गया वह क्या अर्थक्रिया करेगा। अर्थक्रिया वही कर सकता है जिसका सम्बन्ध आगे की पर्यायसे हो। मिट्टीके पिण्डसे घट बनता है। मिट्टीका पिण्ड नष्ट होकर स्वयं घटरूपसे परिणत हो जाता है। ऐसा नहीं है कि मिट्टीके पिण्डके पूर्णरूपसे नष्ट हो जाने पर घट किसी कारण-के विना अपने आप बन जाता हो। इस बातको सभी जानते हैं कि कारण (मृत्पिण्ड) ही कार्य (घट) रूपसे परिणत हो जाता है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि एक ही पदार्थमें उत्पत्ति, विनाश और स्थिति ये तीन अवस्थायें होती हैं। जो पदार्थ उत्पन्न होता है वही कुछ काल तक स्थित रहता है, और बादमें वही नष्ट हो जाता है। उत्पत्ति और नाशमें भी द्रव्यका अन्वय बना रहता है। ऐसा नहीं है कि उत्पन्न तो कोई होता हो, नाश किसी दूसरेका होता हो, और स्थिति किसी अन्यकी ही होती हो। मिट्टीके पिण्डके नाशसे घटकी उत्पत्ति होती है, उत्पन्न घट कुछ काल तक स्थित रहता है, और अन्तमें वही घट फूट-कर मिट्टीमें मिल जाता है। इन सब पर्यायोंमें मिट्टी ज्योंकी त्यों बनी रहती है। जितने पदार्थ हैं उन सबमें उत्पाद, विनाश और स्थिति ये तीन अवस्थायें नियमसे पायी जाती हैं। इन तीनोंके विना वस्तुकी सत्ता ही नहीं हो सकती है। इन तीनोंका नाम ही सत्ता है। कहा भी है—

'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।' 'सद्द्रव्यलक्षणम्'।

—तत्त्वार्थसूत्र ५।२९,३०

जिनमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाया जाता है वह सत् है। और सत् ही द्रव्यका लक्षण है।

शंका—उत्पाद आदि तीन यदि वस्तुसे अभिन्न हैं तो तीनमेंसे कोई एक ही रहेगा, क्योंकि एक वस्तुसे अभिन्न धर्मोंमें भेद नहीं हो सकता है। और यदि उत्पाद आदि वस्तुसे भिन्न हैं तो उन तीनमें भी अन्य उत्पाद आदि तीन होंगे, और उनमें भी अन्य उत्पादादि होंगे। इस प्रकार अनवस्थादोषका प्रसंग होगा।

उत्तर—उक्त दोष एकान्तवादमें ही हो सकते हैं। अनेकान्तवादमें

बौद्धोंका उक्त कथन अयुक्त तो है ही, साथ ही बौद्ध आगमसे भी विरुद्ध है। स्वयं बौद्ध ग्रन्थोंमें अभावको भी एक धर्म माना गया है—

शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रितः। प्रमाणवा० ३।२६

यहाँ धर्मको तीन प्रकारका बतलाया गया है—भावरूप, अभावरूप और उभयरूप। जितने भी पदार्थ हैं, वे सब भाव और अभाव इन दो रूपोंसे इस प्रकार बँधे हुए हैं, जैसे नसैनीके पाये दोनों ओरसे दो काष्ठोंसे जकड़े रहते हैं। न तो कोई पदार्थ भावरूप ही है, और न अभावरूप ही, किन्तु प्रत्येक पदार्थ दोनों रूप है। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे भावरूप है। तथा परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे अभावरूप है। कोई भी प्रमाण न तो सर्वथा भावको ही ग्रहण करता है, और न सर्वथा अभावको ही। बौद्धोंके यहाँ प्रमाण केवल भावको ही जानता है, अभावको नहीं, क्योंकि पदार्थ भावरूप ही है, अभावरूप नहीं। किन्तु यदि पदार्थ अभावरूप नहीं है, तो वह भावरूप भी नहीं हो सकता है। भाव और अभाव ये दोनों परस्परमें सापेक्ष हैं। एकके विना दूसरा नहीं हो सकता है। इस दोषको दूर करनेके लिए यदि बौद्ध अभावको भी प्रमाणका विषय मानना चाहें तो उनको प्रत्यक्ष और अनुमानसे अतिरिक्त एक तीसरा प्रमाण मानना पड़ेगा। क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान केवल भावको ही जानते हैं। और यदि बौद्धोंको तृतीय प्रमाण मानना अनिष्ट है, तो अभावको वस्तुका ही धर्म मानना चाहिए। वस्तु उभयात्मक (भावाभावात्मक) है, और ऐसी वस्तु ही प्रमाणका विषय होती है। इस प्रकार जो केवल भावकी ही सत्ता मानते हैं, ऐसे भावैकान्तवादियोंके मतमें किसी भी इष्ट तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

अब अभावैकान्तवादमें जो-जो दोष आते हैं, उनको बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

अभावैकान्तपक्षेऽपि भावापह्नववादिनाम्।
बोधवाक्यं प्रमाणं न केन साधनदूषणम् ॥१२॥

भावको नहीं माननेवाले अभावैकान्तवादियोंके मतमें भी इष्ट तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है। वहाँ न बोध प्रमाण है, और न वाक्य। और प्रमाणके अभावमें स्वमतकी सिद्धि तथा परमतका खण्डन किसी भी प्रकार संभव नहीं है।

अभावैकान्तवादी अथवा शून्यैकान्तवादी कहते हैं कि केवल अभाव ही तत्त्व है, और भावकी सत्ता किसी भी प्रकार नहीं है। उनके मतमें

अतः पदार्थोंका कोई स्वरूप सिद्ध न हो सकनेके कारण अभावैकान्त मानना ही श्रेयस्कर है।

इस प्रकार कहने वाले माध्यमिकोंके यहाँ जब कोई भी तत्त्व नहीं है तो, न तो अभावैकान्तवादियोंकी सत्ता हो सकती है, और न कोई प्रमाण ही हो सकता है। तब माध्यमिक न तो अपने पक्षकी सिद्धि कर सकते हैं, और न भावकी सत्ता मानने वालोंके मतमें दूषण दे सकते हैं। यदि माध्यमिक स्वपक्षसिद्धि करते हैं, और परपक्षमें दूषण देते हैं, तो उनको बहिरंग और अन्तरंग तत्त्वका सद्भाव अवश्य मानना पड़ेगा। हम कह सकते हैं कि बहिरंग और अन्तरंग तत्त्वकी सत्ता वास्तविक है, क्योंकि दोनों तत्त्वोंमेंसे एकके अभावमें न तो स्वपक्षकी सिद्धि हो सकती है, और न परपक्षमें दोष दिया सकता है। यदि अन्तरंग और बहिरंग तत्त्व माननेके डरसे माध्यमिक स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष दूषण भी काल्पनिक मानें, तो ऐसा माननेसे न तो वास्तवमें नैरात्म्य (अभाव)की सिद्धि होगी, और न अनैरात्म्यमें दोष दिया जा सकेगा। कल्पनासे साध्य-साधन-की व्यवस्था मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि साधनके काल्पनिक होनेसे साध्यकी सिद्धि भी काल्पनिक होगी। काल्पनिक साधनसे साध्यकी पारमार्थिक सिद्धि संभव नहीं है। और जब शून्यकी सिद्धि अपारमार्थिक है, तो ऐसी स्थितिमें भावका निराकरण नहीं किया जा सकेगा, और सब तत्त्वोंकी पारमार्थिक सत्ता स्वयमेव सिद्ध हो जायगी। इस प्रकार माध्यमिक इष्ट तत्त्वकी सिद्धि करनेमें समर्थ नहीं है। वह हेय और उपादेय तत्त्वके ज्ञानसे रहित होनेके कारण केवल निरर्थक वचनोंका ही प्रयोग करता है।

माध्यमिक कहता है कि हेय तत्त्व सद्वादको, और उपादेय तत्त्व शून्यवादको संवृति (कल्पना)से माननेमें कोई दोष नहीं है। यहाँ माध्यमिकसे यह पूँछा जा सकता है कि संवृतिसे किसी पदार्थका अस्तित्व माननेका अर्थ क्या है। यदि इसका अर्थ यह है कि पदार्थोंका सद्भाव स्वरूपकी अपेक्षासे है, तो यह कथन स्याद्वादियोंके अनुकूल ही है। यदि संवृतिसे सद्भावका अर्थ यह माना जाय कि पदार्थोंका सद्भाव पररूपकी अपेक्षासे नहीं है, तो यह अर्थ भी स्याद्वादियोंके अनुकूल है। केवल नाममें ही विवाद रहा, अर्थमें नहीं। पदार्थोंका अस्तित्व संवृति से है, यहाँ संवृति-का अर्थ यदि विचारानुपपत्ति किया जाय अर्थात् पदार्थोंके विषयमें किसी प्रकारका विचार नहीं किया जा सकता है, ऐसा माना जाय तो भी ठीक

लिये ज्ञानके होने पर विषयका प्रतिभास अवश्य होगा, तो इन्द्रियसे ज्ञानकी भी उत्पत्ति होती है, अतः इन्द्रियका भी प्रतिभास होना चाहिये। बौद्धोंके यहाँ ज्ञानकी उत्पत्तिमें चार कारण माने गये हैं—अधिपतिप्रत्यय, आलम्बनप्रत्यय, समनन्तरप्रत्यय और सहकारीप्रत्यय। इन्द्रियोंको अधिपति प्रत्यय कहते हैं। विषयका नाम आलम्बन प्रत्यय है। पूर्ववर्ती ज्ञान समनन्तर प्रत्यय है, और आलोक आदि सहकारी प्रत्यय होते हैं। जिस प्रकार ज्ञानकी उत्पत्तिमें विषय कारण होता है, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी कारण होती हैं। इसलिये यदि ज्ञानके होनेपर ज्ञानकी उत्पत्तिका हेतु होनेसे विषयका प्रतिभास होता है, तो इन्द्रियका प्रतिभास होना भी आवश्यक है। क्योंकि विषयकी तरह इन्द्रिय भी ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि ज्ञानको विषयाकार होनेसे ज्ञानमें विषयका ही प्रतिभास होता है, इन्द्रियका नहीं, क्योंकि ज्ञान इन्द्रियके आकार नहीं होता है। इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार ज्ञान विषयके आकार होता है उसी प्रकार इन्द्रियके आकार भी होना चाहिए। यदि कहा जाय कि जैसे बालककी उत्पत्तिमें माता और पिता दोनों ही कारण होते हैं, किन्तु बालक दोनोंमें से किसी एकके ही आकारको धारण करता है, उसी प्रकार इन्द्रिय और विषय दोनोंको ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण होने पर भी ज्ञान विषयके आकार ही होता है इन्द्रियके नहीं। तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि बालकके दृष्टान्तके अनुसार ज्ञानको केवल उपादान कारणके आकार होना चाहिए, विषयके आकार नहीं। विषय ज्ञानका आलम्बन प्रत्यय होता है, और उपादान समनन्तर प्रत्यय होता है। इसलिए दोनोंमें निकट सम्बन्ध होनेसे ज्ञान दोनोंके आकार होता है, ऐसा मानने पर जिस प्रकार ज्ञान विषयको जानता है उसी प्रकार उसे पूर्ववर्ती ज्ञानको भी जानना चाहिये। अथवा जिस प्रकार वह पूर्ववर्ती ज्ञानको नहीं जानता है उसी प्रकार विषयको भी नहीं जानना चाहिये। यद्यपि ज्ञानकी उत्पत्ति विषय और पूर्ववर्ती ज्ञान दोनोंसे होती है तथा ज्ञान दोनोंके आकार भी होता है, किन्तु 'यह रूप है' 'यह रस है' इस प्रकारका अध्यवसाय (निश्चय) विषयमें होनेके कारण ज्ञान विषयको ही जानता है, ऐसा माना जाय तो यहाँ प्रश्न होगा कि जिस प्रकार विषयमें अध्यवसाय होता है उसी प्रकार पूर्ववर्ती ज्ञानमें भी अध्यवसाय होना चाहिये। दूसरी बात यह भी है कि बौद्धोंके अनुसार विषयमें अध्यवसाय

दूसरी वासना तथा दूसरी वासनाके द्वारा तीसरी वासना, इस क्रमसे अनेक वासनाओंकी उत्पत्ति होती रहती है। अतः सविकल्पककी उत्पत्ति-का कारण भिन्न होनेसे यह कहना ठीक नहीं है कि सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे होती है, और निर्विकल्पककी तरह सवि-कल्पक भी अविचारक है।

उक्त कथन भी अविचारितरम्य है। बौद्धोंके अनुसार सविकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें रूपादि विषयका नियम होता है। अर्थात् जब सविकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा 'यह रूप है' 'यह रस है' इस प्रकार-का अध्यवसाय (निश्चय) हो जाता है तभी यह समझना चाहिये कि यह रूप अथवा रस निर्विकल्पक प्रत्यक्षका विषय हो चुका है। जिस विषयमें अध्यवसाय नहीं होता है वह निर्विकल्पकका विषय नहीं होता है। इस प्रकार यह नियम है कि सविकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें रूपादि विषयका नियम होता है। किन्तु यह नियम तभी बन सकता है जब सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे हो। सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति शब्दार्थविकल्पवासनासे मानने पर वासनाजन्य सवि-कल्पक प्रत्यक्षके द्वारा निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें रूपादि विषयका नियम नहीं हो सकता है। यदि वासनाजन्य सविकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें रूपादि विषयका नियम माना जाय, तो 'मैं राजा हूँ' इस प्रकार मनोराज्य विकल्पसे भी उक्त नियम मानना चाहिये। यदि निर्वि-कल्पक प्रत्यक्ष सहित वासना द्वारा रूपादिका अध्यवसाय करनेवाले सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति होनेसे सविकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा निर्वि-कल्पक प्रत्यक्षमें रूपादि विषयका नियम मानना ठीक है, तो जिस प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष रूपादिको विषय करता है, उसी प्रकार अपने उपादान कारण पूर्व ज्ञानको भी विषय करना चाहिये, क्योंकि उसकी उत्पत्ति दोनोंसे होती है। सविकल्पक प्रत्यक्षमें 'यह रूप है' इस प्रकार रूपादिको निश्चय [illegible] निर्विकल्पक प्रत्यक्ष [illegible] शब्दका संसर्ग भी [illegible] है। [illegible] निर्विकल्पक प्रत्यक्षके साथ शब्दका संसर्ग है। [illegible] निर्विकल्पक प्रत्यक्षके साथ शब्दका संसर्ग माननेपर रूपादि विषयक [illegible] सविकल्पक [illegible] शब्दका संसर्ग माननेपर [illegible] मानना होगा।

[illegible] शब्दका संसर्ग मानते हैं और [illegible] है।

[illegible]

निश्चयात्मक ज्ञान होता है। 'मैं पुस्तकको देख रहा हूँ' ऐसा वाक्य उच्चारण न करने पर भी सामने रक्खी हुई पुस्तकका चाक्षुष ज्ञान होता ही है। जब सामान्य और विशेष अभिन्न हैं, तो जिस प्रकार सामान्यका व्यवसाय होता है, उसी प्रकार विशेषका भी व्यवसाय होता है। जिस प्रकार सामान्यको शब्दके साथ योजना होती है, उसी प्रकार विशेषकी भी शब्दके साथ योजना होती है। इस प्रकार कोई भी प्रमेय अनभिलाप्य (शब्दका अविषय) नहीं है। किन्तु श्रुतज्ञानके विषय होनेसे सब पदार्थ अभिलाप्य हैं।

बौद्धोंके यहाँ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष शब्दसंसर्ग रहित है और निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति होती है। किन्तु इसके साथ ही नामविशेषके स्मरण द्वारा शब्दयोजनाकी भी सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें अपेक्षा होती है। इस प्रकार निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति सीधे नहीं होती है, किन्तु बीचमें स्मार्त शब्दयोजनाका व्यवधान पड़ जाता है। शब्दाद्वैतवादी शब्दसंसृष्ट अर्थको ग्रहण करने वाला सविकल्पक प्रत्यक्ष मानते हैं, उनके यहाँ अर्थके होने पर भी ज्ञानकी उत्पत्तिमें स्मार्त (स्मृतिजन्य) शब्द योजनाकी अपेक्षा होती है। इसलिए अर्थ और ज्ञानके बीचमें स्मार्त शब्दयोजनाका व्यवधान होनेके कारण अर्थसे सीधे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती है। इसी बातको धर्मकीर्तिने कहा है—

अर्थोपयोगेऽपि पुनः स्मार्तं शब्दानुयोजनम्।
अक्षधीर्यद्यपेक्षेत सोऽर्थो व्यवहितो भवेत्॥

धर्मकीर्तिने उक्त प्रकारसे जो दूषण शब्दाद्वैतवादियोंको दिया है। वही दूषण स्वयं बौद्धोंके लिए भी प्राप्त होता है। क्योंकि निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें स्मार्त शब्दयोजनाका व्यवधान पड़ जाता है। इसलिए निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे सीधे सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती है। [illegible] श्लोकमें दिये गये दूषणको उसी रूपमें इस प्रकार भी दिया जा सकता है।

ज्ञानोपयोगेऽपि पुनः स्मार्तं शब्दानुयोजनम्।
[illegible] व्यवहितं भवेत्॥

[illegible] शब्दाद्वैतवादियोंको अन्य दूषण भी दिया है। [illegible] धर्मकीर्तिने [illegible] अर्थ जिस प्रकार इन्द्रियज्ञानका जनक नहीं है, [illegible] उसी प्रकार ज्ञानका अजनक ही रहेगा। अतः [illegible] भी इन्द्रियज्ञान होना चाहिए। कहा भी है—
[illegible]

बौद्धोंका उक्त कथन युक्ति संगत नहीं है। क्योंकि सामान्य और विशेषमें एकत्वाध्यावसायका निश्चय किसी प्रमाणसे नहीं होता है। चक्षु आदि इन्द्रियोंसे जन्य प्रत्यक्षज्ञान यदि किसी भी प्रकार व्यवसायात्मक नहीं है तो किसी पदार्थके देखने पर उसीके समान पहले देखे हुए पदार्थ-का स्मरण नहीं होना चाहिए, जिस प्रकार कि दानशील तथा अहिंसक व्यक्तिको स्वर्गादि फल उत्पन्न करनेकी शक्तिका अनुभव होने पर भी उसकी स्मृति नहीं होती है, और पदार्थमें क्षणिकत्वका अनुभव होने पर भी उसकी स्मृति नहीं होती है। व्यवसायात्मक मानस प्रत्यक्षसे दृष्ट पदार्थके सजातीय पदार्थकी स्मृति मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अव्यवसायात्मक इन्द्रियज्ञानसे व्यवसायात्मक मानस प्रत्यक्षकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। और यदि अदृष्ट आदि किसी सहकारी कारणकी अपेक्षासे व्यवसायात्मक मानस प्रत्यक्षकी उत्पत्ति होती है, तो स्वयं व्यव-सायात्मक इन्द्रियज्ञानकी उत्पत्ति भी उसी प्रकार होनेमें क्या आपत्ति है।

शंका—इन्द्रियज्ञानसे नील, पीत आदिका व्यवसाय मानने पर क्षण-क्षय, स्वर्गप्रापणशक्ति आदिका भी व्यवसाय मानना पड़ेगा। इसलिए इन्द्रियज्ञान व्यवसायात्मक नहीं है।

उत्तर—मानस प्रत्यक्षको भी उक्त कारणसे व्यवसायात्मक नहीं मानना चाहिए।

शंका—मानसप्रत्यक्ष क्षणक्षय आदिको विषय नहीं करता है, इसलिए क्षणक्षय आदिके व्यवसाय करनेका प्रश्न ही नहीं है।

उत्तर—यदि यही बात है तो इन्द्रियज्ञान भी क्षणक्षय आदिको विषय नहीं करता है। अतः इन्द्रियज्ञानमें भी क्षणक्षय आदिके व्यवसायका प्रसङ्ग प्राप्त नहीं होगा।

शंका—ऐसा मानने पर नीलादिसे क्षणक्षय आदिको भिन्न मानना पड़ेगा। क्योंकि नीलादिका व्यवसाय होने पर भी क्षणक्षय आदिका व्यव-साय नहीं हुआ। जैसे कि जिस खंभे पर पिशाच बैठा हुआ है उसका ज्ञान होने पर भी पिशाचका ज्ञान नहीं होता है तो पिशाच खंभेसे भिन्न है।

उत्तर—यही बात मानसप्रत्यक्षके विषयमें भी है। यदि मानसप्रत्यक्ष-से नीलादिका व्यवसाय होने पर भी क्षणक्षय आदिका व्यवसाय नहीं होता है तो नीलादिसे क्षणक्षय आदिमें भेद प्राप्त होगा ही।

अतः इन्द्रियज्ञानको अव्यवसायात्मक मानना किसी भी प्रकार ठीक नहीं है।

भासभेद होने पर भी विषयमें भेद होना आवश्यक नहीं है। एक ही वृक्ष-को एक पुरुष निकटसे देखता है, और दूसरा दूर से। निकटसे देखनेवाले पुरुषको वृक्षका स्पष्ट प्रतिभास होता है, और दूरसे देखनेवाले पुरुषको अस्पष्ट प्रतिभास होता है। परन्तु प्रतिभासमें भेद होनेसे वृक्षमें भेद नहीं होता। इसी प्रकार प्रत्यक्ष और स्मृतिके द्वारा भिन्न भिन्न प्रतिभास होने पर भी स्वलक्षणरूप विषयमें कोई भेद नहीं होता है। अतः मन्दरूपसे प्रतिभासित होनेवाला घट सामान्य यदि शब्दका विषय होता है एवं उसमें संकेत भी किया जाता है, तो इससे यही सिद्ध होता है कि वस्तु कथंचित् अभिधेय है। यदि स्वलक्षणमें शब्द न होनेसे स्वलक्षण अवाच्य है, तो प्रत्यक्षमें अर्थ न होनेसे अर्थ अज्ञेय भी होगा। इसलिए प्रत्यक्षको कल्पनापोढ मानना किसी भी प्रकार संगत नहीं है। यदि प्रत्यक्ष निर्वि-कल्पक है तो उससे सविकल्पक प्रत्यक्षकी उत्पत्ति कदापि नहीं हो सकती है।

इस प्रकार अवाच्यतैकान्त पक्षमें जो दूषण आते हैं उनको संक्षेपमें यहाँ बतलाया गया है। अवाच्यतैकान्त पक्षमें वस्तुको 'अवाच्य' शब्द द्वारा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि अवाच्य शब्दके द्वारा कहने पर वस्तु अवाच्य शब्दका वाच्य हो जाती है। इसी प्रकार अवाच्यतैकान्त पक्षमें स्वलक्षण 'अनिर्देश्य है', यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि अनिर्देश्य शब्दके द्वारा स्वलक्षण निर्देश्य हो जाता है।

इस प्रकार भावैकान्त, अभावैकान्त, उभयैकान्त और अवाच्यतैकान्त का संक्षेपमें निराकरण किया गया।

यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि यदि वस्तु न सत् है, न असत् है, न उभय है, और न अवाच्य है, तो वास्तवमें वस्तु कैसी है। और उस जैनशासनका क्या स्वरूप है जिसमें किसी प्रमाणसे बाधा नहीं आती है। इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए आचार्य कहते हैं—

कथंचित् ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥१४॥

जैन शासनमें वस्तु कथंचित् सत् ही है, कथंचित् असत् ही है। इसी प्रकार अपेक्षाभेदसे वस्तु उभयात्मक और अवाच्य भी है। नयकी अपेक्षासे वस्तु सत् आदि रूप है, सर्वथा नहीं।

पहले सत्त्वैकान्त, असत्त्वैकान्त आदि एकान्तोंका निराकरण किया गया है। क्योंकि वस्तु न तो सर्वथा सत्रूप ही है, और न असत्रूप ही है।

करना ही सप्तभंगी है। इसीलिए सप्तभंगीके लक्षणमें 'अविरोधेन' यह विशेषण दिया गया है। इसी प्रकार एक वस्तुमें विधिकी कल्पना करना और दूसरी वस्तुमें प्रतिषेधकी कल्पना करना भी सप्तभंगी नहीं है। किन्तु जहाँ एक ही वस्तुमें विधि और प्रतिषेधकी कल्पना की जाती है, वहीं सप्तभंगी होती है। इसीलिए सप्तभंगीके लक्षणमें 'एकत्र वस्तुनि' यह विशेषण दिया है। यह शंका भी ठीक नहीं है कि एक ही वस्तुमें अनन्तधर्म पाये जाते हैं, इसलिए अनन्तधर्मोंकी अपेक्षासे अनन्तभंगी मानना पड़ेगी। क्योंकि प्रत्येक धर्मकी अपेक्षासे एक सप्तभंगी होती है, इसलिए अनन्त सप्तभंगियाँ मानना तो उचित है किन्तु अनन्तभंगी मानना किसी भी प्रकार उचित नहीं है।

वस्तुमें सत्त्वधर्म मानना आवश्यक है, क्योंकि सत्त्वके अभावमें वस्तुमें वस्तुत्व ही नहीं बन सकता है। द्रव्यका लक्षण ही 'सत्' है, 'सद् द्रव्यलक्षणम्' ऐसा आगम भी है। सत्त्वकी तरह असत्त्व भी वस्तुका धर्म है, क्योंकि वस्तु कथंचित् सत् है, सर्वथा सत् नहीं है। यदि वस्तु सर्वथा सत् हो, तो जिस प्रकार वह स्वद्रव्य आदिकी अपेक्षासे सत् है, उसी प्रकार पर द्रव्य आदिकी अपेक्षासे भी सत् होगी। और ऐसा माननेमें सब वस्तुएँ सब रूप हो जाँयगी। इसी प्रकार उभय, अवक्तव्य आदि भी वस्तुके धर्म हैं। क्योंकि उस प्रकारका विकल्प और शब्द व्यवहार देखा जाता है, उस रूप वस्तुकी प्रतीति, प्रवृत्ति तथा प्राप्ति भी देखी जाती है। इस प्रकारका जो व्यवहार देखा जाता है वह ऐसा नहीं है कि विना विषयके ही हो जाता हो। यदि ऐसा हो तो प्रत्यक्षादिके द्वारा होनेवाले व्यवहारको भी निर्विषय मानना पड़ेगा तथा किसी इष्ट तत्त्वकी व्यवस्था भी नहीं हो सकेगी।

शंका—जिस प्रकार प्रथम और द्वितीय धर्म पृथक् हैं तथा प्रथम और द्वितीय धर्मको मिलाकर तृतीयधर्म भी एक पृथक् धर्म है, उसी प्रकार प्रथम और तृतीय धर्मको मिलाकर तथा द्वितीय और तृतीयधर्मको मिलाकर सात धर्मोंसे अतिरिक्त दो धर्म और भी सिद्ध होंगे।

उत्तर—प्रथम और तृतीय धर्मको मिलाकर एक पृथक् धर्म नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रथम धर्म और तृतीय धर्मगत सत्त्व भिन्न-भिन्न नहीं है। जो सत्त्व प्रथम धर्मगत है, वही सत्त्व तृतीय धर्मगत है। प्रथम धर्मगत सत्त्वसे तृतीय धर्मगत सत्त्व भिन्न नहीं है। इसी प्रकार द्वितीय धर्मगत असत्त्व और तृतीय धर्मगत असत्त्व भी भिन्न-भिन्न नहीं है।

होता है, और न नास्तित्व का ही। इसलिए नास्तित्वके साथ अवक्तव्यत्व तथा अस्तित्व और नास्तित्वके साथ अवक्तव्यत्वको मिलानेमें पृथक्-पृथक् धर्म अवश्य ही सिद्ध होते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रथम भंगमें सत्त्वका प्रधानरूपसे कथन होता है। द्वितीय भंगमें असत्त्वका प्रधानरूपसे कथन होता है। तृतीय भंगमें क्रमसे प्रधानभावापन्न सत्त्व और असत्त्वका प्रतिपादन होता है। चतुर्थ भंगमें दोनों धर्मोंकी युगपत् विवक्षा होनेसे अवक्तव्यत्व धर्मका प्रतिपादन होता है। पञ्चम भंगमें सत्त्व सहित अवक्तव्यत्व का, छठवें भंगमें असत्त्व सहित अवक्तव्यत्व का, और सातवें भंगमें क्रमसे सत्त्व और असत्त्व सहित अवक्तव्यत्वका प्रतिपादन होता है।

शंका—जिस प्रकार वस्तुमें एक अवक्तव्यत्व धर्म माना गया है, उसी प्रकार एक वक्तव्यत्व धर्म भी मानना चाहिए। इसलिए वक्तव्यत्व धर्मकी अपेक्षासे आठ धर्म होनेसे सात धर्मोंकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

उत्तर—एक पृथक् वक्तव्यत्व धर्मकी कल्पना करना ठीक नहीं है। सत्त्वादि धर्मोंके द्वारा वस्तुका जो प्रतिपादन होता है, वही वक्तव्यत्व है, उसको छोड़कर अन्य कोई वक्तव्यत्व धर्म नहीं है। फिर भी यदि अवक्तव्यत्वकी तरह वक्तव्यत्वको भी एक पृथक् धर्म माननेका आग्रह हो, तो वक्तव्यत्व और अवक्तव्यत्वकी अपेक्षासे एक पृथक् सप्तभङ्गी सिद्ध हो सकती है, किन्तु सत्त्वादि धर्मोंकी तरह एक पृथक् वक्तव्यत्व धर्म नहीं माना जा सकता।

अतः यह कहना ठीक ही है कि सत्त्वादि सात धर्मोंको विषय करने वाली वाणीका नाम सप्तभङ्गी है। कथंचित् अथवा स्यात् शब्द अनेकान्तका वाचक अथवा द्योतक है। ऐसी आशंका करना ठीक नहीं है कि कथंचित् शब्दसे ही अनेकान्तका प्रतिपादन हो जानेसे सत् आदि वचनोंका प्रयोग अनर्थक है। कथंचित् शब्दके द्वारा सामान्यरूपसे अनेकान्तका प्रतिपादन होता है। किन्तु जो व्यक्ति विशेष जाननेका इच्छुक है, उसके लिए सत् आदि विशेष वचनोंका प्रयोग करना आवश्यक है। जैसे जो वृक्षको नहीं जानता है उसको 'यह वृक्ष है' इस वाक्यके द्वारा सामान्यरूपसे वृक्षका ज्ञान हो जाता है। फिर भी उसको वृक्ष विशेषकी जिज्ञासा होने पर 'यह आमका वृक्ष है' अथवा 'नीमका वृक्ष है' इत्यादि वाक्योंका प्रयोग करना आवश्यक है। कथंचित् शब्दको अनेकान्तका द्योतक मानने में तो सत् आदि वचनोंका प्रयोग करना युक्तिसंगत ही है। सत् आदि

और धारणा भी उसीमें होते हैं, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि भी उसीमें होते हैं। दर्शन, अवग्रह आदि तथा स्मृति आदि समस्त पर्यायोंमें एक ही आत्मा मणियोंमें तन्तुकी तरह विद्यमान रहता है। जो दृष्टा होता है, वही अवगृहीता होता है। यदि ऐसा न हो तो 'यदेव दृष्टं तदेव अवगृहीतं' 'जिस वस्तुका दर्शन किया, अवग्रह भी उसी का किया', तथा 'अहमेव दृष्टा अहमेव अवगृहीता' 'मैं ही दृष्टा हूँ, और मैं ही अवगृहीता हूँ,' इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान नहीं होना चाहिए। नैयायिकोंने भी माना है कि दर्शन और स्पर्शनके द्वारा एक ही अर्थका ग्रहण[1] होनेसे दोनों अवस्थाओं-में रहने वाला आत्मा एक ही है। 'यदेव मया दृष्टं तदेव स्पृशामि' 'जिसको मैंने प्रातः देखा था, उसीका सायं स्पर्श कर रहा हूँ' इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान दोनों अवस्थाओं (दर्शन और स्पर्शन अवस्था) में एक ही आत्माके विना कैसे संभव है। इसलिए दर्शन, अवग्रह, स्मृति आदि अवस्थाओंमें एक ही आत्माका मानना आवश्यक है।

मैं सुखी हूँ, में दुःखी हूँ, मैं ज्ञानवान् हूँ, मैं दर्शनवान् हूँ, इस प्रकार सुख, दुःखादि पर्यायोंको अनुभव करनेवाला आत्मा अनादि निधन है, और सब लोगोंको अपने अपने अनुभवसे प्रत्यक्ष है। परस्परमें भिन्न सहभावी गुण और क्रमभावी पर्यायें आत्मासे उसी प्रकार अभिन्न हैं, जिस प्रकार बौद्धोंके यहाँ चित्रज्ञानसे नील, पीत आदि आकार अभिन्न हैं। यदि क्रम-से होनेवाले सुख, दुःखादि और मति, श्रुत आदि गुणों और पर्यायोंका आत्माके साथ एकत्व नहीं है, तो अनेक पुरुषोंके समान एक पुरुषमें भी इनकी एक सन्तान सिद्ध नहीं हो सकती है। जिस प्रकार कि नील, पीत आदि आकारोंका चित्र ज्ञानके साथ यदि एकत्व नहीं है तो उसे चित्रज्ञान ही नहीं कह सकते हैं। आत्मामें जो हर्ष, विषाद आदि पर्यायें होती हैं उनमें भी परस्परमें सत्त्व, द्रव्यत्व, चेतनत्व आदिकी अपेक्षासे अभेद है। यदि ऐसा न हो तो हर्ष, विषाद आदि विषयक नाना प्रकारकी प्रतिपत्ति नहीं होना चाहिए। किन्तु ऐसा देखा जाता है कि मुझे जिस विषयमें पहिले हर्ष हुआ था उसी विषयमें द्वेष, भय आदि होता है। तथा जिस आत्मामें पहले हर्ष हुआ था उसीमें द्वेष, भय आदि होता है। इसलिये ऐसा नहीं है कि कोई आत्मा नामका तत्त्व ही न हो, किन्तु सुख, दुखादि पर्यायोंको अनुभव करने वाला आत्मा नामका तत्त्व प्रत्यक्षसिद्ध है और कथंचित् सन् है।

---

१. दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्।

अनिश्चित है वह मूर्च्छित व्यक्तिके द्वारा गृहीत वस्तुके समान गृहीत होकरके भी अगृहीतके समान है। इसलिए तत्त्वको सर्वथा अवाच्य मानना ठीक नहीं है। अवाच्यकी तरह तत्त्व सर्वथा वाच्य भी नहीं है।

शब्दाद्वैतवादियोंके मतानुसार तत्त्व सर्वथा वाच्य है। उनका कहना है कि—

लोकमें ऐसा कोई भी प्रत्यय नहीं है जो शब्दके विना होता हो, सम्पूर्ण पदार्थ शब्दमें प्रतिष्ठित एवं अनुविद्ध हैं। ज्ञानमेंसे यदि वचनरूपता निकल जावे तो ज्ञान अपना प्रकाश नहीं कर सकता है, क्योंकि वचनरूपता ही अवमर्श करने वाली है[1]।

उक्त मत भी अविचारित ही है। तत्त्व यदि सर्वथा वाच्य है, तो चक्षुरादि इन्द्रियोंसे होने वाले ज्ञानमें तथा शब्दजन्य ज्ञानमें कोई विशेषता ही नहीं रहेगी। जिस प्रकार शब्दजन्य ज्ञानका विषय वाच्य है, उसी प्रकार चक्षुरादि इन्द्रियजन्य ज्ञानका विषय भी वाच्य होनेसे दोनों ज्ञान समान हो जावेंगे। चक्षुरादि और शब्दादि सामग्रीके भेदसे ज्ञानोंमें भेद मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि तब दोनों प्रकारके ज्ञानों द्वारा वाच्य वस्तुकी प्रतिपत्ति समानरूपसे होगी।

इस प्रकार तत्त्व न तो सर्वथा अवाच्य है, और न सर्वथा वाच्य, किन्तु कथञ्चित् अवाच्य है। कथंचित् अवाच्य कहनेसे यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि तत्त्व कथंचित् वाच्य है। इसी प्रकार तत्त्व कथंचित् सदवाच्य, असदवाच्य और सदसदवाच्य भी है। क्योंकि सर्वथा सत् अथवा असत् तत्त्व अवाच्य नहीं हो सकता है। जो स्वद्रव्य आदिकी अपेक्षासे सत् और पर द्रव्य आदिकी अपेक्षासे असत् है, उसीमें अवाच्यत्व धर्म पाया जाता है। इस प्रकार सामान्यरूपसे सात भंगोंका निरूपण करके अग्रिम कारिका द्वारा प्रथम और द्वितीय भंगोंमें नययोगको दिखलाते हुए आचार्य कहते हैं—

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥

---

1. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम् ॥
वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥
—वाक्यप० १।१२४-१२५

वस्तुमें स्वरूपभेद हो जानेसे स्वरूपसत्त्व, और पररूपासत्त्वमें भी भेद होना स्वाभाविक है। यदि स्वरूपसत्त्व और पररूपासत्त्वमें भेद न हो, तो स्वरूपादि चतुष्टयकी तरह पररूपादि चतुष्टयकी अपेक्षासे भी वस्तु सत् होगी, और पररूपादि चतुष्टयकी तरह स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षासे भी असत् होगी। सर्वत्र अपेक्षाभेदसे धर्मभेद पाया जाता है। बेरकी अपेक्षासे बेल स्थूल है, और मातुलिङ्गकी अपेक्षासे सूक्ष्म है। बेलमें स्थूलत्व और सूक्ष्मत्व दोनोंके सद्भावमें कोई बाधा भी नहीं आती है। ये दोनों धर्म एक भी नहीं हैं, किन्तु पृथक्-पृथक् हैं। इसी तरह स्वरूप-सत्त्व और पररूपासत्त्व भी दो पृथक्-पृथक् धर्म हैं, और उनके सम्बन्धसे प्रथम और द्वितीय दो पृथक्-पृथक् भंग सिद्ध होते हैं।

पदार्थको कथंचित् सदसदात्मक सिद्ध करनेमें अन्य युक्तियाँ भी दी जा सकती हैं। पदार्थ कथंचित् सदसदात्मक है, क्योंकि सब पदार्थ सब पदार्थोंके कार्यको नहीं कर सकते हैं। शीतसे रक्षा करना, शरीरका आच्छादन करना आदि पटका कार्य है, और कूपसे पानी निकालना, पानी भरना आदि घटका कार्य है। पटका जो कार्य है, उसको घट नहीं कर सकता है, क्योंकि घट घटरूपसे सत् है, पटरूपसे नहीं। यदि घट पटरूपसे भी सत् होता, तो उसे पटका काम करना चाहिए था। यही बात सब पदार्थोंके विषयमें है। सब पदार्थ अपना-अपना कार्य करते हैं, दूसरोंका नहीं। इससे सिद्ध होता है कि सब पदार्थ स्वरूपकी अपेक्षासे सत् हैं, और पररूपकी अपेक्षासे असत् हैं। यदि स्वरूपकी अपेक्षासे भी असत् होते तो, जिस प्रकार वे दूसरोंका कार्य नहीं करते हैं, उसी प्रकार अपना भी कार्य नहीं करते। किन्तु देखा यही जाता है कि प्रत्येक पदार्थ अपना ही कार्य करता है, और कोई भी पदार्थ दूसरे पदार्थका कार्य कभी नहीं करता। इससे सिद्ध होता है कि पदार्थ कथंचित् सत् और कथंचित् असत् है।

यह कहा जा सकता है कि एक ही वस्तुमें सत्त्व और असत्त्व मानना युक्ति विरुद्ध है, क्योंकि परस्पर विरोधी धर्मोंका एक ही वस्तुमें होना संभव नहीं है। उक्त कथन ठीक नहीं है। युक्तिपूर्वक विचार करनेपर प्रतीत होता है कि एक ही वस्तुमें सत्त्व और असत्त्वका सद्भाव युक्ति-विरुद्ध नहीं है, किन्तु प्रतीति सिद्ध है। विरोध तो तब होता, जब सत्त्व और असत्त्व दोनोंका सद्भाव एक ही दृष्टिसे माना जाता। स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षासे वस्तु सत् है। और यदि वस्तु स्वरूपादि चतुष्टयकी

प्रतिभास सामान्यकी अपेक्षासे नाना पर्यायोंमें, उपादान और उपादेयमें तथा गुण-गुणी आदिमें कथंचित् एकत्व भी है। प्रत्येक तत्त्वकी व्यवस्था प्रतिभास या अनुभवके अनुसार होती है। अतः अपेक्षाभेदसे एक ही वस्तुमें सत्त्व और असत्त्वका सद्भाव माननेमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं आता है। सत्त्व और असत्त्वमें शीत और उष्ण स्पर्शके समान सहानवस्थानलक्षण विरोध संभव नहीं है। क्योंकि एक ही वस्तुमें दोनोंका एक साथ सद्भाव देखा जाता है। परस्परपरिहारस्थितिलक्षण विरोध भी नहीं हो सकता है। क्योंकि यह विरोध उन्हीं दो पदार्थोंमें पाया जाता है, जो एक ही स्थानमें संभव हैं। जैसे एक आम्रफलमें रूप और रसमें परस्परपरिहार-स्थितिलक्षण विरोध है। असंभव दो पदार्थोंमें यह विरोध नहीं पाया जाता है, जैसे पुद्गलमें ज्ञान और दर्शनका विरोध कभी नहीं हो सकता। एक संभव हो और दूसरा असम्भव हो, तो ऐसे पदार्थोंमें भी यह विरोध सम्भव नहीं है। जैसे पुद्गलमें रूप और ज्ञानका विरोध सम्भव नहीं है। तात्पर्य यह है कि परस्पर परिहारस्थितिलक्षण विरोध सम्भव पदार्थोंमें ही होता है। यदि कोई कहता है कि सत्त्व और असत्त्वमें परस्परपरिहारस्थितिलक्षण विरोध है, तो उसके कहनेसे ही दोनोंका एक ही स्थानमें सद्भाव सिद्ध होता है। वध्यघातकलक्षण विरोध भी एक बलवान् तथा दूसरे अबलवान् पदार्थोंमें पाया जाता है, जैसे सर्प और नकुलमें। सत्त्व और असत्त्व दोनोंको समान बलवाला होनेसे उनमें यह विरोध भी सम्भव नहीं है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि सत्त्व और असत्त्व दोनोंमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है। और प्रत्येक पदार्थ द्रव्यकी अपेक्षासे एक, क्रमरहित, अन्वयरूप, सामान्यात्मक, सत्स्वरूप और स्थितिरूप है। तथा पर्यायकी अपेक्षासे अनेक, क्रमिक, व्यतिरेकरूप, विशेषात्मक, असत्स्वरूप और उत्पत्ति-विनाशरूप है। आत्मद्रव्य निश्चयनयसे स्वप्रदेशव्यापी है, व्यवहारनयसे स्वशरीरव्यापी है, और कालकी अपेक्षासे त्रिकालगोचर है। आत्मा चैतन्यकी अपेक्षासे एक होकर भी सुखादिके भेदसे अनेकरूप है, तथा सजातीय और विजातीय पदार्थोंसे अत्यन्त भिन्न है। चाहे चेतन तत्त्व हो या अचेतन, प्रत्येक तत्त्व सत्-असत्, सामान्य-विशेष आदिरूपसे अनेकान्तात्मक है, और इस प्रकारके तत्त्वका प्रत्यक्ष तथा परोक्ष ज्ञान होता है। प्रत्येक तत्त्वके विषयमें यही व्यवस्था है। ऐसा न माननेसे किसी भी तत्त्वकी व्यवस्था नहीं बन सकती है।

इस प्रकार प्रथम और द्वितीय भङ्गको बतलाकर अन्य भङ्गोंका

और उसका व्यवसाय करे वह ज्ञान प्रमाण है। ऐसा मानकर भी उनको यह मानना ही पड़ता है, कि जो ज्ञान अपने विषयकी उपलब्धि करता है, वह ज्ञान प्रमाण है। बुद्धिमें ऐसी योग्यता तो मानना ही पड़ेगी जिसके कारण वह पदार्थके आकारको धारण करती है। फिर उसी योग्यताके द्वारा नियमसे उस अर्थकी उपलब्धि माननेमें कौन सी हानि है। पदार्थजन्य, पदार्थाकार और पदार्थका व्यवसाय करनेवाला ज्ञान भी अप्रमाण देखा जाता है, जैसे कामला रोगवाले व्यक्तिको शुक्ल शंखमें पीताकार ज्ञान। अतः ज्ञानकी प्रमाणताका नियामक तदुत्पत्ति आदि नहीं हैं, किन्तु अपने विषयकी सम्यक् प्रतीति ही ज्ञानकी प्रमाणताका नियामक है। जो व्यक्ति यथार्थ प्रतीतिको प्रमाण नहीं मानता है, वह न तो स्वपक्षकी सिद्धि ही कर सकता है, और न पर-पक्षमें दूषण ही दे सकता है। जो प्रमाणको ही नहीं मानता है, वह स्वतःसिद्ध पदार्थका ज्ञान नहीं कर सकता है, दूसरोंके लिए उसका प्रतिपादन नहीं कर सकता है, और दूसरे मतका खण्डन भी नहीं कर सकता है। इसलिए प्रमाणको मानना अत्यन्त आवश्यक है। स्व-विषयकी उपलब्धि करनेवाला प्रमाण इस बातकी सिद्धि करता है, कि पदार्थ स्वरूपादिकी अपेक्षासे भावरूप है, तथा पररूपादिकी अपेक्षा-से अभावरूप है। जो व्यक्ति स्वविषयकी उपलब्धि करनेवाले प्रमाण-को नहीं मानता है, वह न किसी विषयमें प्रवृत्ति कर सकता है, और न निवृत्ति। जैसे कि वह दूसरेके ज्ञानसे किसी विषयमें प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं कर सकता है। प्रमाण अपने अर्थकी उपलब्धि करता है, और दूसरेके अर्थकी उपलब्धि नहीं करता है। इसलिए प्रमाण भी कथंचित् सद-सदात्मक है। इस प्रकार जितने भी पदार्थ हैं, वे सब क्रमसे उभय (सत्त्व और असत्त्व) धर्मोंकी प्रधानता होनेसे उभयात्मक हैं।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब वस्तु उभयात्मक है, तो अवाच्य होना कैसे संभव है। इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है। वस्तु अवक्तव्य उस समय होती है, जब कोई व्यक्ति वस्तुके उभय धर्मोंको एक समयमें एक ही शब्दके द्वारा प्रधानरूपसे कहना चाहता है। शब्दमें वाचक शक्ति है, उसका ऐसा स्वभाव है कि एक समयमें एक शब्दके द्वारा एक ही धर्म-का कथन किया जा सकता है। एक समयमें एक शब्दके द्वारा दो धर्मों-का कथन किसी भी प्रकार संभव नहीं है। जब कोई एक समयमें एक शब्दके द्वारा वस्तुके दो धर्मोंको कहना चाहता है, तो उसको ऐसे शब्द-के अभावमें उस समय चुप ही रहना पड़ेगा। अतः यह सिद्ध होता है,

सकता है, और नास्तित्वके बिना अस्तित्व नहीं हो सकता है। इस दोनों धर्मोंका अधिकरण एक ही वस्तु होती है। एक वस्तुमें अस्तित्व हो और दूसरी वस्तुमें नास्तित्व हो, ऐसा मानना प्रतीति विरुद्ध है। अस्तित्व और नास्तित्व ये एक ही वस्तुके विशेषण हैं। अस्तित्व जिस वस्तुका विशेषण होता है, नास्तित्व भी उसी वस्तुका विशेषण होता है।

हेतुका साध्यके साथ अन्वय और व्यतिरेक पाया जाता है। अन्वयको साधर्म्य तथा व्यतिरेकको वैधर्म्य कहते हैं। हेतुके होने पर साध्यका होना अन्वय है और साध्यके अभावमें हेतुका नहीं होना व्यतिरेक है। 'पर्वतमें वह्नि है, धूम होनेसे'। यहाँ धूम हेतु है, और वह्नि साध्य है। जहाँ जहाँ धूम होता है, वहाँ वहाँ वह्नि होती है, और जहाँ वह्नि नहीं होती है, वहाँ धूम नहीं होता है। इस प्रकार धूम और वह्निमें साधर्म्य और वैधर्म्य दिखलाया जाता है। साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों हेतुके विशेषण हैं, तथा परस्परमें एक दूसरेके सापेक्ष हैं। साधर्म्य वैधर्म्यकी अपेक्षा रखता है और वैधर्म्य साधर्म्यकी। जिस हेतुमें साधर्म्य होगा उसमें वैधर्म्य भी अवश्य होगा, और जिसमें वैधर्म्य होगा उसमें साधर्म्य भी अवश्य होगा।

यहाँ यह शंकाकी जा सकती है कि कुछ हेतु केवलान्वयी होते हैं, और कुछ हेतु केवलव्यतिरेकी। जो हेतु केवलान्वयी हैं, उनमें केवल अन्वय ही पाया जाता है, व्यतिरेक नहीं। और जो हेतु केवलव्यतिरेकी हैं, उनमें केवल व्यतिरेक ही पाया जाता है, अन्वय नहीं। अतः यह कैसे माना जा सकता है कि अन्वय और व्यतिरेक परस्पर सापेक्ष हैं।

उक्त शंका कथंचित् ठीक हो सकती है। यह ठीक है कि कुछ हेतुओंको केवलान्वयी तथा कुछ हेतुओंको केवलव्यतिरेकी कहा जाता है। किन्तु सूक्ष्मरीतिसे विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि जिन हेतुओंको केवलान्वयी कहा जाता है, वे हेतु भी कथंचित् व्यतिरेकी हैं, और जिन हेतुओंको केवलव्यतिरेकी कहा जाता है, वे भी कथंचित् अन्वयी हैं। यथा—'सर्वमनित्यं प्रमेयत्वात्, सब पदार्थ अनित्य हैं, प्रमेय होनेसे।' इस अनुमानमें प्रमेयत्व हेतुको केवलान्वयी कहा गया है। जो प्रमेय (ज्ञानका विषय) होता है, वह अनित्य होता है, जैसे घट। इस प्रकार प्रमेयत्व हेतुका अन्वय तो मिल जाता है, किन्तु जो अनित्य नहीं होता है, वह प्रमेय नहीं होता है, ऐसा व्यतिरेक न मिलनेसे यह हेतु केवलान्वयी है। परन्तु प्रमेयत्व हेतु व्यतिरेकी भी है। प्रमेयत्व वस्तुका धर्म है, वह अवस्तुमें नहीं पाया जाता है। जो अनित्य नहीं होता

है, वह प्रमेय नहीं होता है, जैसे गगन कुसुम। यहाँ गगन कुसुमसे साध्य-साधन दोनोंका व्यतिरेक होनेसे प्रमेयत्व हेतु व्यतिरेकी भी है।

गगनकुसुममें भी जो लोग प्रमेयत्वका व्यवहार करना चाहते हैं उनके यहाँ प्रमेय और प्रमेयाभावकी कोई व्यवस्था नहीं हो सकती है। प्रमेयाभावको भी प्रमेय होनेसे प्रमेय क्या है, और प्रमेयाभाव क्या है, इसका कोई नियामक ही नहीं रहेगा। 'खपुष्पमप्रमेयम्' 'गगनकुसुम अप्रमेय है' ऐसा कहने पर भी गगनकुसुम प्रमेय नहीं होता है। जिस प्रकार बौद्धोंके अनुसार प्रत्यक्षको कल्पनापोढ कहने पर भी वह कल्पनापोढ शब्दके द्वारा कल्पना सहित नहीं होता है। तथा स्वलक्षणको अनिर्देश्य कहने पर भी वह अनिर्देश्य शब्दके द्वारा निर्देश्य नहीं होता है। उसी प्रकार 'गगनकुसुम अप्रमेय है' ऐसा कहने पर वह अप्रमेय शब्दके द्वारा भी प्रमेय नहीं होता है। गगनकुसुम प्रमेय तब हो सकता है जब प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाणका विषय हो। गगनकुसुम प्रत्यक्षका विषय नहीं होता है, क्योंकि गगनकुसुमसे प्रत्यक्षकी उत्पत्ति नहीं होती है, और न प्रत्यक्षमें गगनकुसुमका आकार आता है। गगनकुसुमका न तो कोई स्वभाव है, और न कोई कार्य भी है। अतः स्वभाव तथा कार्य हेतुके अभावमें अनुमान प्रमाणकी उत्पत्ति भी कैसे हो सकती है, जिससे वह अनुमान प्रमाणका विषय हो सके। फिर भी यदि गगनकुसुम प्रमेय है तो उसे प्रत्यक्ष और अनुमानसे अतिरिक्त किसी तीसरे प्रमाणका प्रमेय मानना होगा। किन्तु तृतीय प्रमाण बौद्धोंको इष्ट नहीं है। ऐसा मानना भी ठीक नहीं है कि गगनको छोड़कर अन्य कोई गगनकुसुमका अभाव नहीं है, किन्तु गगनका नाम ही गगनकुसुमका अभाव है। क्योंकि भाव और अभाव सर्वथा एक नहीं हो सकते हैं। एक ही पदार्थको भावरूप तथा अभावरूप माननेमें तो कोई विरोध नहीं है, परन्तु वह पदार्थ जिस रूपसे भावरूप है, उसी रूपसे अभावरूप भी है, ऐसा माननेमें विरोध आता है। गगन और गगनकुसुमका अभाव ये सर्वथा एक नहीं हो सकते हैं। आकाशमें आकाशका व्यवहार और आकाश पुष्पके अभावका व्यवहार स्वभावभेदके बिना नहीं हो सकता है। आकाश अपने स्वरूपकी अपेक्षासे है और आकाशकुसुम आदि पररूपकी अपेक्षासे नहीं है।

इस प्रकार जितने पर पदार्थ हैं, उनकी अपेक्षासे वस्तुमें उतने ही स्वभावभेद होते हैं। घट पटकी अपेक्षासे नहीं है, यह घटका एक

भिन्न स्वभाव है। घट पुस्तककी अपेक्षासे नहीं है, यह भी घटका एक भिन्न स्वभाव है। इस दृष्टिसे घटमें पर पदार्थोंकी अपेक्षासे अनन्त स्वभावभेद होते हैं। यदि पर पदार्थोंके निमित्तसे स्वभावभेद न माने जावें तो घट पट नहीं है, पुस्तक नहीं है, इत्यादि रूपसे घटमें जो शब्द-व्यवहार देखा जाता है उसका अभाव हो जायगा। घटमें वैसा संकेत भी नहीं हो सकेगा। अतः यह सुनिश्चित है कि दूसरे पदार्थोंके निमित्तसे पदार्थमें स्वभावभेद होता है। गगन और गगनकुसुमका अभाव एक ही वस्तु नहीं है। यदि दूसरे पदार्थोंके निमित्तसे वस्तुमें स्वभावभेद न हो, तो बौद्धोंका यह कहना कैसे ठीक हो सकता है, कि नित्य पदार्थ क्रमवर्ती सहकारी कारणोंकी सहायतासे कार्य नहीं कर सकता है, क्योंकि नित्य एक स्वभाववाला है, और नाना सहकारी कारणोंकी सहायतासे कार्य करनेमें उसके नाना स्वभाव हो जावेंगे। बौद्ध यदि पर पदार्थके निमित्तसे वस्तुमें स्वभावभेद नहीं मानेंगे तो नित्य पदार्थमें भी क्रमवर्ती सहकारी कारणोंके द्वारा कोई स्वभावभेद नहीं होगा, और नित्य पदार्थ एक स्वभावको धारण करते हुए भी क्रमवर्ती सहकारी कारणोंकी सहायतासे कार्य कर सकेगा। इसलिए जब बौद्ध यह मानते हैं कि अन्य पदार्थ किसी वस्तुके स्वभावके भेदक होते हैं, तब स्वलक्षण और अन्यापोह ये एक कैसे हो सकते हैं। स्वलक्षण भिन्न है, और अन्यापोह भिन्न है। गगन पृथक् है, और गगमकुसुमका अभाव पृथक् है। गगन और गगनसुमनका अभाव एक ही वस्तु है, ऐसा किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। जितने भी पदार्थ हैं, वे सब अस्तित्व और नास्तित्वसे सम्बद्ध हैं। पदार्थोंमें जो विधि और निपेधका व्यवहार होता है, वह काल्पनिक नहीं है किन्तु पारमार्थिक है।

बौद्ध मानते हैं, कि तत्त्व (स्वलक्षण) अवाच्य है। और उसमें विधि-निषेध व्यवहार संवृति (कल्पना)से होते हैं। उक्त कथन सर्वथा असंभव है। यदि वास्तवमें पदार्थ अस्तित्व, नास्तित्व आदिरूपसे अनेक स्वभाववाला न हो, तो इसका अर्थ यह होगा कि पदार्थमें अनेकरूपोंकी उपलब्धि असंभव है और वह संवृत्तिसे होती है। किन्तु ऐसा मानना तब उचित हो सकता है, जब एकरूप पदार्थकी उपलब्धि होती हो। यह कहना भी ठीक नहीं है कि अनेक स्वभावोंकी उपलब्धि अनादिकालीन अविद्याके उदयसे होती है। क्योंकि निर्बाधि और अनुभव सिद्ध विषयकी उपलब्धिको अविद्याके द्वारा माननेसे संसारमें किसी तत्त्वकी व्यवस्था ही नहीं हो सकेगी। यदि पदार्थमें अनेकत्वकी प्रतीति संवृतिके

में अविनाभावी धर्म हैं। जिस प्रकार नास्तित्वके विना अस्तित्व नहीं हो सकता है, उसी प्रकार अस्तित्वके विना नास्तित्व भी नहीं हो सकता है। हेतुमें वैधर्म्यका सद्भाव साधर्म्यकी अपेक्षासे ही होता है। शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कृतक है। जो अनित्य नहीं होता है, वह कृतक भी नहीं होता है, जैसे आकाश, यह हेतु का वैधर्म्य है। जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, जैसे घट। यह हेतुका साधर्म्य है। हेतु में जो वैधर्म्य पाया जाता है वह साधर्म्यके विना नहीं हो सकता है। हेतुमें अन्वय और व्यतिरेकका कथन साधर्म्य और वैधर्म्य धर्मोंकी अपेक्षासे होता है। यदि अन्वय और व्यतिरेकका कथन वास्तविक धर्मोंके आधार-से न हो तो विपरीतरूपसे भी अन्वय और व्यतिरेक दिखाये जा सकते हैं। जो कृतक होता है, वह अनित्य होता है, जैसे आकाश, और जो अनित्य नहीं होता है, वह कृतक नहीं है, जैसे घट। इस प्रकार पार-मार्थिक धर्मोंके अभावमें विपरीत रूपसे भी अन्वय और व्यतिरेकके दिखानेमें कौनसी बाधा हो सकती है। तात्पर्य यह है कि हेतुमें अन्वय और व्यतिरेक वास्तविक होते हैं, काल्पनिक नहीं। जो धर्म किसीका विशेषण होता है वह नियमसे अपने प्रतिपक्षी धर्मका अविनाभावी होता है। जिस प्रकार हेतुमें वैधर्म्य विशेषण अपने प्रतिपक्षी साधर्म्यका अविना-भावी है, उसी प्रकार वस्तुमें नास्तित्व विशेषण अपने प्रतिपक्षी अस्तित्व-का अविनाभावी है। वस्तु पररूपादिकी अपेक्षासे असत् है। यदि ऐसा न हो अर्थात् पररूपादिकी अपेक्षासे भी वस्तु सत् हो तो किसी वस्तुका कोई निश्चित स्वभाव न होनेके कारण संसारके समस्त पदार्थोंमें संकर (मिश्रण) हो जायगा। घटका काम घट ही करता है, पट नहीं, क्योंकि घटका स्वभाव भिन्न है और पटका स्वभाव भिन्न है। यदि घट और पटका स्वभाव एक हो, तो पटको घटका काम करना चाहिए और घटको पटका काम करना चाहिए। सब पदार्थ अपनी अपनी शक्ति और स्व-भावके अनुसार अपना अपना कार्य करते हैं। कोई भी पदार्थ दूसरे पदार्थका कार्य कभी भी नहीं करता है। इससे प्रतीत होता है कि सब पदार्थोंका स्वभाव पृथक् पृथक् है। धर्म, धर्मी, गुण, गुणी आदिकी [illegible] होकर पारमार्थिक है। पदार्थोंमें भेद, अभेद आदि धर्म [illegible] अनुसार होती है। पदार्थोंमें जो नास्तित्व [illegible] और जो अस्तित्व धर्म है वह [illegible] सापेक्ष है। इसी प्रकार [illegible] अविनाभावी होते हैं। [illegible]

द्रव्यम्, ५. स्यादेकमवक्तव्यं च द्रव्यम्, ६. स्यादनेकवक्तव्यं च द्रव्यम्, ७. स्यादेकमनेकमवक्तव्यं च द्रव्यम्।

द्रव्यसामान्यकी अपेक्षासे सब द्रव्य समान हैं, एक द्रव्यसे दूसरे द्रव्योंमें कोई भेद नहीं है। सबमें द्रव्यत्व, सत्त्व आदि धर्म समान रूपसे पाये जाते हैं। यद्यपि अनेक द्रव्योंमें प्रतिभास विशेषका अनुभव होता है, किन्तु सत्त्व, द्रव्यत्व आदिकी समानताके कारण उनमें कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार चित्रज्ञानमें अनेक आकार होनेपर भी चित्रज्ञान एक ही रहता है, अनेक नहीं, उसी प्रकार समस्त द्रव्योंमें द्रव्यत्व, सत्त्व आदिके कारण द्रव्य व्यवहार होता है। इसलिए द्रव्य कथंचित् एक है। द्रव्य कथंचित् अनेक भी है। प्रत्येक द्रव्यका कार्य, स्वभाव आदि सब पृथक् पृथक् हैं। एक द्रव्यका जो स्वभाव है वह दूसरे द्रव्यका नहीं है, और एक द्रव्यका जो कार्य है वह दूसरे द्रव्यका नहीं है। उनका प्रतिभास भी भिन्न भिन्न रूपसे होता है। इसलिए द्रव्य कथंचित् अनेक है। अर्थात् सामान्यकी अपेक्षासे द्रव्य एक है और विशेषकी अपेक्षासे अनेक है। जब सामान्य और विशेषकी अपेक्षासे क्रमशः कथन किया जाता है तब द्रव्य कथंचित् एक और अनेक सिद्ध होता है। उभय दृष्टिसे युगपत् कथनकी विवक्षा होनेपर द्रव्य अवक्तव्य सिद्ध होता है। सामान्य और विशेषकी अपेक्षासे किसी वस्तुका जो प्रतिपादन किया जायगा वह क्रमशः ही संभव है, एक साथ और एक शब्दके द्वारा दो धर्मोंका प्रतिपादन किसी भी प्रकार संभव नहीं है। ऐसी स्थितिमें द्रव्यको अवक्तव्य ही कहना पड़ेगा। इसी प्रक्रियाके अनुसार आगेके तीन भंगोंको भी समझ लेना चाहिए।

एकत्व धर्म निमित्तक सप्तभंगी अन्य पदार्थोंमें भी उक्त क्रमसे घटित होती है। जैसे—स्वर्ण स्यादेकं, स्यादनेकम्, स्यादुभयम्, स्यादवक्तव्यम्, स्यादेकमवक्तव्यम्, स्यादनेकमवक्तव्यम्, स्यादेकानेकमवक्तव्यम्।

द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टिसे सब स्वर्ण एक है। स्वर्णके जितने भी आभूषण हैं उनमें स्वर्णकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं है। अतः सामान्यकी अपेक्षासे अथवा द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे स्वर्ण एक सिद्ध होता है। वही स्वर्ण विशेषकी अपेक्षासे अथवा पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे अनेक सिद्ध होता है। स्वर्णकी जितनी पर्यायें हैं वे सब एक दूसरेसे भिन्न हैं, एक पर्यायका जो काम है वह दूसरी पर्याय नहीं कर सकती ... कटक, केयूर आदि स्वर्णके जितने आभूषण हैं, वे पर्यायकी

अपेक्षासे सब पृथक् पृथक् हैं। क्योंकि कुण्डलका जो काम है वह कुण्डल ही कर सकता है, कटक नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वर्ण कथंचित् अनेक है।

जब द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे स्वर्णका क्रमसे प्रतिपादन करना विवक्षित हो तो स्वर्ण कथंचिदुभय सिद्ध होता है। यदि दोनों नयोंकी दृष्टिसे स्वर्णका युगपत् कथन विवक्षित हो तो स्वर्णको अवक्तव्य ही मानना होगा। प्रधानरूपसे दो धर्मोंका कथन एक ही समयमें एक शब्दके द्वारा संभव नहीं है। इसी प्रकार स्वर्ण कथंचित् एक-अवक्तव्य, कथंचित् अनेक-अवक्तव्य और कथंचित् एक-अनेक-अवक्तव्य है। द्रव्यार्थिक नयके साथ दोनों नयोंकी युगपत् विवक्षा होनेसे स्वर्ण कथंचित् एक-अवक्तव्य है। पर्यायार्थिक नयके साथ दोनों नयोंकी युगपत् विवक्षा होनेसे स्वर्ण कथंचित् अनेक-अवक्तव्य है। दोनों नयोंकी पहले क्रमशः, और पुनः युगपत् विवक्षा होनेसे स्वर्ण कथंचित् एक-अनेक-अवक्तव्य है। एकत्व अनेकत्वका अविनाभावी है, और अनेकत्व एकत्वका अविनाभावी है। एकत्व और अनेकत्व दोनों एक द्रव्यमें विशेषण होते हैं।

इस प्रकार सत्त्व, एकत्व आदि धर्मोंको लेकर सप्तभंगीकी जो प्रक्रिया है वही प्रक्रिया अन्य सप्तभंगियोंमें भी लगाना चाहिए।

आता है। इसलिए अद्वैतमात्र तत्त्वकी सत्ताका सद्भाव किसी भी प्रकार संभव नहीं है।

अद्वैतैकान्तमें अन्य दूषणोंको दिखलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्।
विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद् वन्धमोक्षद्वयं तथा ॥२५॥

अद्वैत एकान्तमें शुभ और अशुभ कर्म, पुण्य और पाप, इहलोक और परलोक, ज्ञान और अज्ञान, वन्ध और मोक्ष, इनमेंसे एक भी द्वैत सिद्ध नहीं होता है।

लोकमें दो प्रकारके कर्म देखे जाते हैं—शुभकर्म और अशुभकर्म। हिंसा करना, झूठ वोलना, चोरी करना आदि अशुभकर्म हैं। हिंसा नहीं करना, सत्य वोलना, चोरी नहीं करना, परोपकार करना, दान देना, आदि शुभकर्म हैं। दो प्रकारके कर्मोंका फल भी दो प्रकारका मिलता है—अच्छा और वुरा। जो शुभ कर्म करता है उसे अच्छा फल मिलता है। इसे पुण्य कहते हैं। और जो अशुभ कर्म करता है, उसको वुरा फल मिलता है। इसे पाप कहते हैं। अद्वैतमात्र तत्त्वके सद्भावमें दो कर्मोंका अस्तित्व कैसे हो सकता है। जब कर्म ही नहीं है, तो उसका फल भी नहीं हो सकता है। अतः दो कर्मोंके अभावमें दो प्रकारके फलका अभाव स्वतः हो जाता है। दो प्रकारके लोकको भी प्रायः सब मानते हैं। इहलोक तो सबको प्रत्यक्ष ही है। इस लोकके अतिरिक्त एक परलोक भी है, जहाँसे यह जीव इस लोकमें आता है, और मृत्युके वाद पुनः वहाँ चला जाता है। परलोकका अर्थ है जन्मके पहले और मृत्युके वादका लोक। ऐसा भी माना गया है कि इस जन्ममें किये गये कर्मोंका फल अगले जन्ममें मिलता है। किन्तु अद्वैतवादमें न कर्म है, न कर्मफल है, और न परलोक है।

यह कहना भी ठीक नहीं है कि कर्मद्वैत, फलद्वैत, लोकद्वैत आदिकी कल्पना अविद्याके निमित्तसे होती है। क्योंकि विद्या और अविद्याका सद्भाव भी अद्वैतवादमें नहीं हो सकता है। यहाँ तक कि वन्ध और मोक्षकी भी व्यवस्था अद्वैतमें नहीं वन सकती है। यदि कोई व्यक्ति प्रमाणविरुद्ध किसी तत्त्वकी कल्पना करता है, तो किसी न किसी फलकी अपेक्षासे ही करता है। विना प्रयोजनके मूर्ख भी किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता है। अतः कोई वुद्धिमान् व्यक्ति सुख-दुःख पुण्य-पाप वन्ध-मोक्ष आदिसे रहित अद्वैतवादका आश्रय कैसे ले सकता है। अतः ब्रह्माद्वैतकी सत्ता स्ववुद्धिकल्पित है।

ब्रह्माद्वैतवादियोंका कहना है कि ब्रह्मका सद्भाव स्वबुद्धिकल्पित नहीं है, किन्तु प्रमाणसिद्ध है। अनुमान और आगम प्रमाणसे ब्रह्मकी सिद्धि होती है। 'सब पदार्थ ब्रह्मके अन्तर्गत हैं, प्रतिभासमान होनेसे'। इस अनुमानका तात्पर्य यह है कि सब पदार्थ स्वतः प्रकाशित होते हैं, इसलिए वे स्वतः प्रकाशमान ब्रह्मके अन्तर्गत ही हैं। इस प्रकार स्वतः प्रकाशमानत्व हेतुके द्वारा ब्रह्मकी सिद्धि की जाती है। आगम प्रमाणसे भी ब्रह्मकी सिद्धि होती है। वेदमें 'सर्वमात्मैव' 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य आते हैं। इन वाक्योंकी व्याख्या उपनिषदोंमें निम्न प्रकार की गयी है।

ब्रह्मेति ब्रह्मशब्देन कृत्स्नं वस्त्वभिधीयते ।
प्रकृतस्यात्मकात्स्न्यंस्य वै शब्दः स्मृतये मतः ॥
सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन ।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यन्ति कश्चन ॥

'सर्वमात्मैव' इस वाक्यमें आत्मा या ब्रह्म शब्द द्वारा संसारकी समस्त वस्तुओंका कथन होता है। 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इस वाक्य में 'वै' शब्द इस बातको बतलाता है कि सारे संसारमें या पदार्थोंमें ब्रह्मकी ही एकमात्र सत्ता है। इस जगत्‌में सब कुछ ब्रह्म ही है, अनेक कुछ भी नहीं है। लोग केवल ब्रह्मकी पर्यायोंको ही देखते हैं, ब्रह्मको कोई नहीं देखता।

इस प्रकार ब्रह्माद्वैतवादी अनुमान और आगम इन दो प्रमाणोंसे ब्रह्मकी सिद्धि करते हैं।

उक्त मतका खण्डन करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः ।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥२६॥

हेतुके द्वारा अद्वैतकी सिद्धि करने पर हेतु और साध्यके सद्भावमें द्वैतकी सिद्धिका प्रसंग आता है। और यदि हेतुके बिना अद्वैतकी सिद्धि की जाती है, तो वचनमात्रसे द्वैतकी सिद्धि भी क्यों नहीं होगी।

पहले ब्रह्माद्वैतवादियोंने हेतुके द्वारा ब्रह्मकी सिद्धि की है। उनका कहना है कि हेतुके द्वारा ब्रह्मकी सिद्धि करनेपर भी द्वैतकी सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि हेतु और साध्यमें तादात्म्य सम्बन्ध है। वे पृथक्-पृथक् नहीं हैं।

ब्रह्माद्वैतवादियोंका उक्त कथन ठीक नहीं है। हेतु और साध्यमें कथंचित् तादात्म्य मानना तो ठीक है, किन्तु सर्वथा तादात्म्य मानना ठीक नहीं है। सर्वथा तादात्म्य माननेपर उनमें साध्य-साधनभाव हो ही नहीं सकता है। इसी प्रकार आगमसे भी ब्रह्मकी सिद्धि करनेपर आगमको ब्रह्मसे अभिन्न नहीं माना जा सकता है। यदि ब्रह्मसाधक आगम ब्रह्मसे अभिन्न है, तो अभिन्न आगमसे ब्रह्मकी सिद्धि कैसे हो सकती है। अतः हेतु और ब्रह्मका द्वैत तथा आगम और ब्रह्मका द्वैत होनेसे अद्वैतकी सिद्धि संभव नहीं है।

स्वसंवेदनसे भी पुरुषाद्वैतकी सिद्धि संभव नहीं है। स्वसंवेदनसे पुरुषाद्वैतकी सिद्धि करनेपर पूर्वोक्त दूषणसे मुक्ति नहीं मिल सकती है। ब्रह्म साध्य है, और स्वसंवेदन साधक है। यहाँ साध्य-साधकके भेदसे द्वैतकी सिद्धिका प्रसंग बना ही रहता है। और साधनके बिना अद्वैतकी सिद्धि करनेपर द्वैतकी सिद्धि भी उसी प्रकार क्यों नहीं होगी। कहने मात्रसे अभीष्ट तत्त्वकी सिद्धि माननेपर वादीकी तरह प्रतिवादीके अभीष्ट तत्त्वकी सिद्धि भी हो जायगी।

बृहदारण्यकवार्तिकमें ब्रह्मके विषयमें कहा गया है—

आत्माऽपि सदिदं ब्रह्म मोहात्पारोक्ष्यदूषितम् ।
ब्रह्मापि स तथैवात्मा सद्वितीयतयेक्ष्यते ॥
आत्मा ब्रह्मेति पारोक्ष्यसद्वितीयत्वबाधनात् ।
पुमर्थे निश्चितं शास्त्रमिति सिद्धं समीहितम् ॥

इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि एक सद्रूप ब्रह्म ही सत्य है, किन्तु मोहके कारण आत्मा या ब्रह्मकी दो रूपसे प्रतीति होती है। आगम द्वैतका बाधक एवं अद्वैतका साधक है।

उक्त कथन भी तर्कसंगत नहीं है। यदि मोहके कारण द्वैतकी प्रतीति होती है, तो मोहका सद्भाव वास्तविक है या अवास्तविक। यदि मोह अवास्तविक है, तो वह द्वैतकी प्रतीतिका कारण कैसे हो सकता, और मोहके वास्तविक होनेपर द्वैतकी सिद्धि अनिवार्य है।

इस प्रकार ब्रह्मकी सिद्धिमें उभयतः दूषण आता है। हेतु और आगमसे ब्रह्मकी सिद्धि करनेपर द्वैतकी सिद्धि होती ही है। और वचनमात्रसे अद्वैतकी सिद्धि माननेपर द्वैतकी सिद्धि भी वचनमात्रसे होनेमें कौनसी बाधा है।

क्षणिकैकान्तका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

संतानः समुदायश्च साधर्म्यं च निरंकुशः ।
प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिह्नवे ॥२९॥

एकत्वके अभावमें निर्बाध संतान, समुदाय, साधर्म्य और प्रेत्यभाव आदिका भी अभाव हो जायगा।

बौद्ध मानते हैं कि सब पदार्थ प्रतिक्षण विनाशशील हैं। कोई भी पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है। पदार्थका स्थितिकाल केवल एक क्षण है। वे पदार्थोंमें क्षणिकत्वको सिद्धि अनुमान प्रमाणसे करते हैं। वह अनुमान इस प्रकार है—'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्'। 'सब पदार्थ क्षणिक हैं, सत् होनेसे'। पदार्थोंको क्षणिक सिद्ध करनेमें उनकी युक्ति यह है कि नित्य पदार्थ न तो क्रमसे अर्थक्रिया कर सकता है और न युगपत् अर्थक्रिया कर सकता है। अर्थक्रियाके अभावमें सत्त्वका अभाव होना स्वाभाविक ही है। अतः सत्त्वका सद्भाव क्षणिक पदार्थमें ही हो सकता है, नित्यमें नहीं। पदार्थोंके क्षणिक होने पर भी भ्रान्तिवश वे स्थिर मालूम पड़ते हैं। जिस प्रकार दीपककी लौ भिन्न-भिन्न होने पर भी सादृश्यके कारण एक ही मालूम पड़ती है, उसी प्रकार यद्यपि पदार्थ प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं, किन्तु आगे-आगे उसीके सदृश पदार्थोंकी संतान उत्पन्न होती रहती है। उस सदृश संतानके कारण ही एकत्व या स्थिरत्वकी प्रतीति होती है।

बौद्ध एकत्वको न मानकर भी सन्तान, समुदाय, साधर्म्य और प्रेत्यभाव आदिको मानते हैं। उनके यहाँ सन्तान एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा सारे काम चल जाते हैं। आत्मा नामका कोई पदार्थ नहीं है, केवल ज्ञानकी सन्तानमें आत्माका व्यवहार होता है। ज्ञानको क्षणिक होनेपर भी ज्ञानकी सन्तान (धारा) चालू रहती है, उसी सन्तानके कारण स्मृति आदि होती है। एक प्राणी कर्मोंका बन्ध करता है, किन्तु उसका फल उस प्राणीकी सन्तानको मिलता है, मुक्ति भी सन्तानकी ही होती है। एक प्राणी मरकर दूसरे लोकमें नहीं जाता है, केवल उसकी सन्तान दूसरे लोकमें जाती है। इसलिए सन्तानकी अपेक्षासे प्रेत्यभाव भी सिद्ध हो जाता है। सब परमाणु पृथक्-पृथक् हैं, एक परमाणुका दूसरे परमाणुके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी बौद्ध उसमें समुदायकी कल्पना करते हैं। एक पदार्थका दूसरे पदार्थके साथ साधर्म्य है, ऐसा भी वे मानते हैं।

अपेक्षासे संसारके सब पदार्थ कथंचित् एक हैं। सब पदार्थोंमें सत्, सत् ऐसी अनुवृत्त प्रतीति होनेके कारण सबको एक कहनेमें कोई विरोध भी नहीं है। विजातीय पदार्थ भी सत्ताकी अपेक्षासे सजातीय ही हैं। यद्यपि ज्ञान और ज्ञेय पृथक्-पृथक् दो स्वतंत्र पदार्थ हैं, किन्तु सत्ताकी अपेक्षा से उनमें भी कोई भेद नहीं है। यदि ज्ञान और ज्ञेयमें सत्ताकी अपेक्षासे भी भेद माना जाय तो असत् होनेके कारण दोनोंका अभाव ही सिद्ध होगा। ज्ञानको ज्ञेयसे और ज्ञेयको ज्ञानसे सत्ताकी अपेक्षासे भी भिन्न माननेपर न ज्ञान सत् हो सकता है, और न ज्ञेय। अतः दोनोंको असत् होनेसे दोनोंका अभाव स्वतः सिद्ध हो जाता है। ज्ञान और ज्ञेय परस्पर सापेक्ष पदार्थ हैं। जो जानता है वह ज्ञान है, और जो जाना जाता है वह ज्ञेय है। ज्ञेयके अभावमें ज्ञान किसको जानेगा और ज्ञानके अभावमें ज्ञेयका ज्ञान कैसे होगा ? ज्ञेय दो प्रकारका होता है—बहिरंग ज्ञेय और अन्तरंग ज्ञेय। घट, पट आदि बहिरंग ज्ञेय हैं। आत्मा और आत्मा-की समस्त पर्यायें तथा गुण अन्तरंग ज्ञेय हैं। ज्ञानके अभावमें किसी भी ज्ञेयका सद्भाव नहीं हो सकता है। ज्ञानका ज्ञेयसे कथंचित् स्वभावभेद होनेपर भी सत्ताकी अपेक्षासे उनमें तादात्म्य है। विज्ञानाद्वैतवादियों-के यहाँ एक ही ज्ञानमें ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार ये दो आकार होते हैं। आकारोंकी अपेक्षासे ज्ञानमें भेद होनेपर भी ज्ञानकी अपेक्षासे उन दोनों आकारोंमें तादात्म्य माना गया है। यदि सत्ताकी अपेक्षासे भी ज्ञानका ज्ञेयसे तादात्म्य न हो तो ज्ञान आकाशपुष्पके समान असत् होगा। और ज्ञानके अभावमें ज्ञेयका भी अस्तित्व नहीं सिद्ध हो सकेगा। क्योंकि ज्ञेय ज्ञानकी अपेक्षा रखता है। अतः ज्ञान और ज्ञेयमें सत्ताकी अपेक्षासे तादा-त्म्य मानना ही श्रेयस्कर है।

शब्दका वाच्य पदार्थ नहीं है, किन्तु सामान्य (अन्यापोह) है, इस मतका खण्डन करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

सामान्यार्था गिरोऽन्येषां विशेषो नाभिलप्यते।
सामान्याभावतस्तेषां मृषैव सकला गिरः ॥३१॥

कुछ लोगोंके मतमें शब्द सामान्यका कथन करते हैं। शब्दोंके द्वारा विशेषका कथन नहीं होता है। उन लोगोंके यहाँ सामान्यके मिथ्या होनेसे सामान्य प्रतिपादक समस्त वचन असत्य ही हैं। बौद्धोंके अनुसार शब्दोंके द्वारा अर्थका कथन नहीं होता है, किन्तु

तृतीय परिच्छेद

नित्यत्वैकान्तका खण्डन करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते ।
प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥३७॥

नित्यत्वैकान्त पक्षमें भी विक्रिया उत्पन्न नहीं हो सकती है। जब पहले ही कारकका अभाव है तब प्रमाण और प्रमाणका फल ये दोनों कहाँ बन सकते हैं।

सांख्य मतके अनुसार सब पदार्थ कूटस्थ नित्य हैं। जो तीनों कालोंमें एकरूपसे रहता है, उसे कूटस्थ नित्य कहते हैं। पर्यायदृष्टिसे भी किसी भी पदार्थकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होता है, केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता है। घटादि पदार्थ अपने कारणोंमें छिपे रहते हैं, यही उनका तिरोभाव है, और अनुकूल कारणोंके मिलने पर उनका प्रकट हो जाना आविर्भाव कहलाता है। घटकी न तो उत्पत्ति होती है, और न नाश होता है। किन्तु आविर्भाव और तिरोभाव होता है। अन्धेरेमें तिरोभाव हो जानेके कारण घट नहीं दिखता है, और प्रकाशमें आविर्भाव हो जानेके कारण दिखने लगता है। घट तो ज्योंका त्यों रहा। यही बात घटादिकी उत्पत्ति और नाशके विषयमें जानना चाहिये।

सांख्यका उक्त मत किसी भी प्रकार समीचीन नहीं है। तत्त्वको सर्वथा नित्य माननेपर उससे कोई भी क्रिया उत्पन्न नहीं हो सकती है। उससे न तो परिणमनरूप क्रिया उत्पन्न हो सकती है, और न परिस्पन्द-रूप क्रिया। सर्वथा नित्य पदार्थ न तो कार्यकी उत्पत्तिके पहिले कारक है, और न कार्योत्पत्तिके समय भी कारक है। ऐसी स्थितिमें उसके द्वारा कार्यकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है। जब पदार्थ अकारक है और विक्रिया-रहित है, तो प्रमाण और प्रमाणका फल भी नहीं बन सकता है। जो अकारक है वह प्रमाता नहीं हो सकता है, और प्रमाताके अभावमें प्रमि-तिरूप फल भी संभव नहीं है। जो पदार्थ न किसीकी उत्पत्ति करता है, और न परिच्छित्ति ही करता है, उसकी सत्ता असंभव है।

अर्थ होनेसे सन्तान संवृतिरूप नहीं हो सकती है। उसे वास्तविक मानना होगा। और यदि सन्तान संवृतिरूप है तो वह मुख्य न होकर उपचाररूप ही होगी। किन्तु उपचारसे भी सन्तानकी कल्पना संभव नहीं है, क्योंकि मुख्य अर्थके अभावमें उपचार नहीं होता है। उपचरित पदार्थसे मुख्य अर्थका कार्य भी नहीं होता है। बालकको उपचारसे अग्निका व्यवहार करनेपर बालकसे पाक आदि क्रिया संभव नहीं है। उपचरित सन्तान अन्य क्षणोंमें अनन्य प्रत्ययका कारण नहीं हो सकती है। और पृथक्-पृथक् क्षणोंमें अनन्य प्रत्यय भी संभव नहीं है। और अनन्य प्रत्ययके अभावमें संतानकी सिद्धि किसी भी प्रकार नहीं हो सकती है।

यहाँ बौद्ध कहते हैं कि सन्तान न तो सन्तानियोंसे भिन्न है, और न अभिन्न, न उभयरूप है, और न अनुभयरूप, वह तो अवाच्य है। तथाहि—

चतुष्कोटेर्विकल्पस्य सर्वान्तेषूक्त्ययोगतः।
तत्त्वान्यत्वमवाच्यं चेत्तयोः संतानतद्वतोः॥४८॥

सत्त्व आदि सब धर्मोंमें चार प्रकारका विकल्प नहीं हो सकता है। अतः सन्तान और सन्तानियोंमें एकत्व और अन्यत्व अवाच्य है।

बौद्धोंका कहना है कि प्रत्येक धर्ममें चार प्रकारके विकल्प हो सकते हैं। और वे इस प्रकार होते हैं—वस्तु सत् है, असत् है, उभय है, या अनुभय है। यदि सत् है, तो उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। असत् है, तो शून्यताको प्राप्ति होती है। उभयरूप माननेमें दोनों पक्षोंमें दिये गये दूषण आते हैं। अनुभयरूप मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि एक धर्मका निषेध होनेपर दूसरेका विधान स्वतः प्राप्त होता है। दोनों धर्मोंका निषेध संभव नहीं है। फिर भी दोनों धर्मोंका निषेध माना जाय तो वस्तु निःस्वभाव हो जायगी। सन्तानको भी सन्तानियोंसे अभिन्न माननेपर सन्तानी ही रहेंगे, और भिन्न माननेपर 'यह इनकी सन्तान है' ऐसा विकल्प भी नहीं हो सकता है। उभयरूप माननेमें उभय पक्षोंमें दिये गये दूषण आते हैं। और अनुभयरूप माननेमें सन्तान और सन्तानी दोनों निःस्वभाव हो जाँयगे। इसलिए सन्तान और सन्तानियोंमें जो भिन्न, अभिन्न आदि विकल्प किये गये हैं वे ठीक नहीं हैं। सन्तान सन्तानियोंसे भिन्न है, या अभिन्न? इस विषयमें यही कहा जा सकता है कि सन्तान सन्तानियोंसे न तो भिन्न है, और न अभिन्न है, किन्तु अवाच्य है।

जो पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे सत् है उसका दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे निषेध होता है। जो अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे भी सर्वथा असत् है उसकी न तो विधि ही हो सकती है, और न प्रतिषेध ही। सर्वथा असत् पदार्थका अस्तित्व असंभव होनेसे उसकी विधि (सद्भाव) असंभव ही है। और विधिके अभावमें उसका प्रतिषेध भी संभव नहीं है। क्योंकि प्रतिषेध विधिपूर्वक ही होता है। जो पदार्थ कथंचित् अभिलाप्य है, उसमें अभिलाप्यत्वका निषेध करके कथंचित् अनभिलाप्यत्व सिद्ध किया जाता है। जो कथंचित् विशेषण-विशेष्यरूप है, वही कथंचित् अविशेषण-अविशेष्यरूप होता है, अतः एकान्तरूपसे न तो कोई अनभिलाप्य है, और न अविशेषण-अविशेष्यरूप है। जो अभिलाप्य है, उसको अनभिलाप्य माननेमें और जो विशेषण-विशेष्यरूप है, उसको अविशेषण-अविशेष्यरुप माननेमें कोई विरोध नहीं है। बौद्ध स्वयं स्वलक्षणको अनिर्देश्य मानकर अनिर्देश्य शब्दके द्वारा निर्देश्य मानते हैं। यह कहना भी ठीक नहीं है कि अभाव अनभिलाप्य है। क्योंकि जहाँ अभावका कथन किया जाता है, वहाँ भावका भी कथन होता है। अभाव सर्वथा अभावरूप नहीं होता है, किन्तु भावान्तररूप होता है। जब कोई कहता है कि यहाँ घट नहीं है, इसका अर्थ यह होता है कि यहाँ घटरहित भूतलका सद्भाव है। घटाभावका अर्थ है घटरहित भूतल। इसी प्रकार जहाँ भावका कथन किया जाता है, वहाँ अभावका कथन भी होता है। 'यह घट है' ऐसा कहनेपर 'घट पट नहीं है' ऐसा तात्पर्य स्वयं फलित हो जाता है। अतः यह सिद्ध होता है कि भाववाचक शब्दोंके द्वारा अभावका और अभाववाचक शब्दोंके द्वारा भावका कथन होता है।

इस प्रकार स्वद्रव्य आदिकी अपेक्षासे जो सत् है, वही विधि और निषेधका विषय होता है। सर्वथा असत् पदार्थमें विधि और निषेधका होना असंभव है।

बौद्धों द्वारा माना गया तत्त्व सब धर्मोंसे रहित होनेके कारण अवस्तु है, और अनभिलाप्य है, इस बातको बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

अवस्त्वनभिलाप्यं स्यात् सर्वान्तैः परिवर्जितम् ।
वस्त्वेवावस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात् ॥४८॥

जो सर्व धर्मोंसे रहित है वह अवस्तु है, और अवस्तु होनेसे वह अन-

सर्वान्ताश्चेदवक्तव्यास्तेषां किं वचनं पुनः ।
संवृतिश्चेन्मृषैवैषा परमार्थविपर्ययात् ॥४९॥

यदि सर्व धर्म अवक्तव्य हैं तो उनका कथन क्यों किया जाता है। यदि उनका कथन संवृतिरूप है, तो परमार्थसे विपरीत होनेके कारण वह मिथ्या ही है।

जो लोग कहते हैं कि सब धर्म अवक्तव्य हैं, वे धर्मदेशनारूप तथा स्वपक्षके साधन और परपक्षके दूषणरूप वचनोंका प्रयोग क्यों करते हैं। उन लोगोंको तो मौनावलम्बन ही श्रेयस्कर है। जो सब तत्त्वोंको अवक्तव्य कहता हुआ भी उनका प्रतिपादन करता है, वह उस व्यक्तिके समान है, जो कहता है कि मैं मौनी हूँ। यदि सब धर्म वास्तवमें अवक्तव्य हैं, तो उनका प्रतिपादन किसी प्रकार संभव नहीं है। यदि कहा जाय कि संवृतिसे उनका प्रतिपादन होता है, तो यहाँ अनेक विकल्प होते हैं—स्वरूप, पररूप, उभयरूप, तत्त्व, और मृषा, इनमेंसे संवृतिका अर्थ क्या है। 'संवृतिसे सब धर्म अभिलाप्य हैं' इसका अर्थ यह माना जाय कि स्वरूपसे अभिलाप्य हैं, तो उनको अनभिलाप्य कैसे कहा जा सकता है। यदि वे पररूपसे अभिलाप्य हैं, तो पररूप भी उनका स्वरूप ही है। अतः पररूपसे अभिलाप्यका अर्थ स्वरूपसे अभिलाप्य ही हुआ। केवल कहनेमें स्खलन हो गया। 'स्वरूपकी अपेक्षासे अभिलाप्य हैं' ऐसा कहना चाहिए था, किन्तु उच्चारणके दोषसे ऐसा कथन हो गया कि पररूपकी अपेक्षासे अभिलाप्य हैं। यदि धर्म उभयरूपसे वक्तव्य हैं, तो दोनों पक्षोंमें दिये गये दूषण आते हैं। इसी प्रकार धर्म यदि तत्त्वतः वक्तव्य हैं, तो स्वप्नमें भी वे अवक्तव्य नहीं हो सकते हैं। यहाँ भी कथनमें दोष हो गया। तत्त्वतः वक्तव्य हैं, ऐसा कहनेके स्थानमें संवृतिसे वक्तव्य हैं, ऐसा कथन हो गया। यदि संवृतिका अर्थ मृषा है, तो संवृतिसे धर्म वक्तव्य हैं, इसका अर्थ हुआ कि मिथ्यारूपसे धर्म वक्तव्य हैं। यदि धर्म मिथ्यारूपसे वक्तव्य हैं, तो उनका कथन ही नहीं करना चाहिये। क्योंकि परमार्थमें विपरीत होनेके कारण संवृतिसे वक्तव्य धर्म तत्त्वतः अवक्तव्य ही होंगे। इस प्रकार धर्मोंको सर्वथा अनभिलाप्य मान कर भी उनका जो प्रतिपादन किया जाता है उसमें विरोध स्पष्ट है। यदि तत्त्व सर्वथा अनभिलाप्य है तो उसका प्रतिपादन नहीं हो सकता है। और यदि उसका प्रतिपादन किया जाता है, तो उसको अवक्तव्य नहीं कह सकते। सर्वथा अवक्तव्य धर्म 'अवक्तव्य' शब्दके द्वारा भी वक्तव्य नहीं हो सकता है।

नहीं होगा। इसी प्रकार एक विषयके अभावमें भी प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता है। प्रातः देखे गये विषयसे सायंकाल भिन्न विषय देखनेपर प्रत्यभिज्ञान नहीं होगा। इसप्रकार प्रत्यभिज्ञानके द्वारा पदार्थोंमें कथंचित् नित्यत्वकी सिद्धि होती है।

कथंचित् क्षणिकत्वकी सिद्धि भी प्रत्यभिज्ञानके द्वारा होती है। प्रत्यभिज्ञान दो पर्यायोंका संकलन करता है। उन दो पर्यायोंमें कालभेद पाया जाता है। यदि उन पर्यायोंमें कालभेद न हो, तो एक पर्यायसे दूसरी पर्यायमें बुद्धिका संचार कैसे हो सकता है। 'यह वही है' इस प्रकार पूर्व पर्यायसे उत्तर पर्यायमें बुद्धिका संचार अवश्य होता है। पूर्व और उत्तर पर्यायमें एकत्वको जानने वाला प्रत्यभिज्ञान उन पर्यायोंमें कालभेदका भी ज्ञान करता है। इसलिए कालभेदसे पदार्थोंमें कथंचित् क्षणिकत्व सिद्ध होता है। कालभेद ज्ञानमें भी पाया जाता है, और पर्यायोंमें भी। प्रत्यभिज्ञानके विषयभूत पदार्थके दर्शनका काल भिन्न है, और प्रत्यभिज्ञानका काल भिन्न है। इसी प्रकार पूर्व पर्यायके कालसे उत्तर पर्यायका काल भी भिन्न है। विषयके कथंचित् एक और कथंचित् क्षणिक होनेपर ही प्रत्यभिज्ञान संभव है। विषय सर्वथा एक हो या सर्वथा क्षणिक हो तो प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता है।

इसी प्रकार प्रमाता यदि सर्वथा क्षणिक है तो भी प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता है। पूर्व और उत्तर पर्यायोंको देखनेवाला एक ही होना चाहिए, तभी प्रत्यभिज्ञान होगा। यदि किसी पदार्थको देवदत्तने देखा हो तो उसमें यज्ञदत्तको प्रत्यभिज्ञान नहीं होगा। जिन पदार्थोंमें कार्यकारणभाव है उनमें भी एकके द्वारा पूर्व पर्यायको देखनेपर और दूसरेके द्वारा उत्तर पर्यायको देखनेपर प्रत्यभिज्ञान नहीं होगा। पिता-पुत्रमें उपादान-उपादेय सम्बन्ध होनेपर भी पिताके द्वारा देखे हुए पदार्थमें पुत्रको प्रत्यभिज्ञान नहीं होगा, क्योंकि पितासे पुत्र सर्वथा पृथक् है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि जिसकी एक सन्तान चलती है उसमें प्रत्यभिज्ञान होता है, और जिसकी एक सन्तान नहीं चलती उसमें प्रत्यभिज्ञान नहीं होता है। क्योंकि एक सन्तति और भिन्न सन्ततिका निर्णय कैसे होगा। जिसमें प्रत्यभिज्ञान हो उसकी एकसन्तति होती है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञानके द्वारा एक सन्ततिका निर्णय करनेपर अन्योन्याश्रय दोष आता है। प्रत्यभिज्ञानकी सिद्धि एक सन्तति की सिद्धिपर निर्भर है, और एक सन्ततिकी सिद्धि प्रत्यभिज्ञानकी सिद्धिपर निर्भर है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय स्पष्ट है। किन्तु स्याद्वाद मतमें इस प्रकारका दूषण नहीं आता

कुण्डल बनवा लिया जाता है, कुण्डलको तुड़वाकर चूड़ा, चूड़ाको तुड़वाकर अँगूठी आदि कोई भी आभूषण बनवा लिया जाता है। किन्तु प्रत्येक पर्यायमें स्वर्णका अन्वय पाया जाता है। जब प्रत्येक पर्यायमें वही द्रव्य बना रहता है, तो यह स्पष्ट है कि द्रव्यका उत्पाद और विनाश नहीं होता है। उत्पाद और विनाश पर्यायका होता है। एक पर्याय नष्ट होती है, और दूसरी पर्याय उत्पन्न हो जाती है। किन्तु उन सब पर्यायोंमें 'यह वही द्रव्य है' इस प्रकार द्रव्यका अन्वय सदा बना रहता है। नख, केश आदिके काटे जानेके बाद पुनः उनके निकलनेपर 'ये वही नख, केश हैं,' इस प्रकारका जो एकत्व ज्ञान होता है, वह भ्रान्त है। किन्तु एक विषयमें किसी ज्ञानके भ्रान्त होनेसे सब विषयोंमें उसको भ्रान्त कहना वैसा ही है, जैसे एक पुरुषके असत्यवादी होनेसे सबको असत्यवादी कहना। अतः अन्वयकी अपेक्षासे वस्तु ध्रौव्यरूप है, और विशेषकी अपेक्षासे उत्पाद-विनाशरूप है।

उत्पाद आदि तीनों परस्परमें पृथक्-पृथक् नहीं हैं, किन्तु उत्पाद आदि तीनोंके समुदायका नाम ही वस्तु है। उत्पादादिके समुदायका नाम वस्तु है, यह कथन कल्पित नहीं है, किन्तु प्रमाणसिद्ध है। वस्तुके कृतक होनेसे उत्पाद-विनाशकी सिद्धि और अकृतक होनेसे ध्रौव्यकी सिद्धि होती है। वस्तुमें जो पूर्व स्वभावका त्याग और उत्तर स्वभावका उपादान होता है, वह दूसरेके द्वारा किया जाता है। अतः वस्तु कृतक है। और उसके ध्रौव्य स्वभावके लिए किसीकी अपेक्षा न होनेसे वह अकृतक है। चेतन पदार्थ हो या अचेतन, किसीकी भी उत्पत्ति द्रव्यकी अपेक्षासे नहीं होती है। जो सामान्यरूपसे सत् है उसमें किसी पर्याय विशेषकी उपलब्धि होनेसे उसकी उत्पत्ति कही जाती है, जैसे मिट्टीमें घटरूप पर्याय विशेषकी उपलब्धि होनेसे मिट्टीकी उत्पत्ति मानी जाती है। जो ध्रौव्यरूप है, उसीकी उत्पत्ति और विनाश होता है। तथा जो उत्पाद और विनाशरूप है, उसीमें ध्रौव्यत्व पाया जाता है। इस प्रकार वस्तुमें उत्पाद आदि तीनकी सिद्धि होती है।

प्रत्येक पदार्थमें परिणमन करनेका विशिष्ट स्वभाव रहता है। तन्तुओंका स्वभाव पटरूपसे परिणमन करनेका है, घटरूपसे परिणमन करनेका नहीं। मिट्टीमें घटरूपसे परिणमन करनेका स्वभाव है, पटरूपसे परिणमन करनेका नहीं। प्रत्येक पदार्थमें जिस पर्यायरूप परिणमन करनेका स्वभाव होता है, वह उसीरूपसे परिणमन करता है। मिट्टीमें घट-

है। क्योंकि पुरुष और सुखादिकी तरह उत्पाद और विनाशमें जाति, संख्या आदिकी अभेदरूपसे स्थिति रहती है। सत्त्व, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व आदि जाति-रूप होनेसे, एक संख्यारूप होनेसे तथा उत्पाद-विनाशरूप शक्तिविशेषका अन्वय होनेसे उत्पाद और विनाश कथंचित् अभिन्न हैं। पृथिवी द्रव्यको छोड़कर घटका अन्य कोई नाश और उत्पाद नहीं है। मिट्टी ही घटरूपसे नष्ट होकर कपालरूपसे उत्पन्न हो जाती है। अतः मिट्टीरूप द्रव्यकी अपेक्षासे उत्पाद और विनाश अभिन्न हैं। द्रव्यकी अपेक्षासे उत्पाद और विनाशमें एकत्व संख्याकी उपलब्धि होती है। उनमें एक शक्तिविशेष भी पायी जाती है। इन कारणोंसे उत्पाद और विनाश अभिन्न हैं। जैसे 'मैं ही सुखी था और मैं ही दुःखी हूँ' ऐसी प्रतीति होनेसे सुख, दुःखादिसे अभिन्न पुरुषकी सिद्धि होती। इस प्रकार उत्पाद और विनाश कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं।

इसी प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य भी कथंचित् भिन्न और कथं-चित् अभिन्न हैं। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कथंचित् भिन्न हैं, क्योंकि उनकी भिन्न-भिन्न रूपसे प्रतीति होती है। जैसे एक फलमें रूपादिकी भिन्न-भिन्न प्रतीति होती है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कथंचित् अभिन्न भी हैं, क्योंकि वस्तुसे ये तीनों अपृथक् हैं, अथवा इन तीनोंकी अभिन्नता या समुदायका नाम ही वस्तु है। परस्पर सापेक्ष होकर ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अर्थक्रिया करते हैं। व्यय और ध्रौव्यसे रहित विनाश [illegible] और उत्पादसे रहित ध्रौव्य, तथा उत्पाद और ध्रौव्यसे रहित [illegible] कल्पना आकाशकुसुमकी कल्पनाके समान ही है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य [illegible] और तीनोंमेंसे एकके भी अभावमें सत् [illegible] समुदायका नाम ही सत् या द्रव्य है।

[illegible]

सुवर्णके घटको चाहता है, दूसरा मनुष्य सुवर्णके मुकुटको चाहता है और तीसरा मनुष्य केवल सुवर्णको चाहता है। स्वर्णकारने सुवर्ण-घटको तोड़ कर मुकुट बनाया। उस समय सुवर्ण-घटके नष्ट हो जाने पर सुवर्ण-घटके चाहने वाले पुरुषको शोक होता है। शोकका कारण है वस्तुका नाश। तोड़ गये घटके सुवर्णका मुकुट बन जाने पर मुकुटके चाहने वाले पुरुषको हर्ष होता है। हर्षका कारण है वस्तुका उत्पाद। और केवल सुवर्णके चाहने वाले पुरुषको घटके नष्ट हो जाने पर न तो शोक होता है, और न मुकुटके उत्पन्न होने पर हर्ष होता है, वह तो दोनों अवस्थाओंमें मध्यस्थ रहता है। मध्यस्थ रहनेका कारण है वस्तुका ध्रौव्यत्व। यदि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पृथक्-पृथक् न होते तो वही सोना एक पुरुषको शोक-का कारण, दूसरे पुरुषको हर्षका कारण, और तीसरे पुरुषको माध्यस्थ्य-भावका कारण कैसे होता। हर्ष, विषाद आदि निर्हेतुक नहीं हो सकते हैं, उनका कोई न कोई हेतु तो होना ही चाहिये। अतः घट पर्यायका विनाश शोकका हेतु है, मुकुट पर्यायकी उत्पत्ति हर्षका हेतु है, और सुवर्णद्रव्य-का ध्रौव्यत्व माध्यस्थ्यभावका हेतु है। जो सुवर्णमात्रको चाहता है उसको घटके टूटने और मुकुटके उत्पन्न होनेसे कोई प्रयोजन नहीं है। घटके बने रहने पर उसका काम चल सकता है, मुकुटके बने रहने पर भी उसका काम चल सकता है, और घटके टूट जानेके बाद मुकुटके बन जाने पर भी उसका काम चल सकता है। इस प्रकार वस्तुमें निर्वाध-रूपसे उत्पाद आदि तीनकी प्रतीति होती है। और वह प्रतीति वस्तुको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप सिद्ध करती है।

पूर्वोक्त बातको लोकोत्तर दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥६०॥

जिसके दूध खानेका व्रत है वह दधि नहीं खाता है, जिसके दधि खानेका व्रत है वह दूध नहीं खाता है, और जिसके गोरस नहीं खानेका व्रत है वह दोनों नहीं खाता है। इसलिए तत्त्व तीन रूप है।

दूध पर्यायका नाश होने पर दधिकी उत्पत्ति होती है। किन्तु गोरस-का सद्भाव दोनों अवस्थाओंमें बना रहता है। किसीने यह व्रत लिया कि मैं आज दुग्ध ही खाऊँगा, तो वह उस दिन दधि नहीं खाता है। यदि दधि के उत्पन्न होने पर भी उसमें दुग्धका सद्भाव रहता तो उसको दधि भी

चतुर्थ परिच्छेद

नैयायिक-वैशेषिकके भेदवादका खण्डन करने के लिए आचार्य कहते हैं—

कार्यकारणनानात्वं गुणगुण्यन्यतापि च ।
सामान्यतद्वदन्यत्वं चैकान्तेन यदीष्यते ॥६१॥

यदि नैयायिक-वैशेषिक कार्य-कारणमें, गुण-गुणीमें और सामान्य-सामान्यवान्‌में सर्वथा भेद मानते हैं (तो ऐसा मानना ठीक नहीं है)

इस कारिका द्वारा नैयायिक-वैशेषिकका मत उपस्थित किया गया है। नैयायिक-वैशेषिक अवयव-अवयवीमें, गुण-गुणीमें, कार्य-कारणमें, सामान्य-सामान्यवान्‌में, और विशेष-विशेषवान्‌में सर्वथा भेद मानते हैं। अवयवोंसे अवयवीका प्रतिभास भिन्न होता है, कारणसे कार्यका प्रतिभास भिन्न होता है, गुणोंसे गुणीका प्रतिभास भिन्न होता है, सामान्यसे सामान्यवान्‌का प्रतिभास भिन्न होता है, और विशेषसे विशेषवान्‌का प्रतिभास भिन्न होता है। अतः प्रतिभासभेद होनेसे अवयव, अवयवी आदि पृथक्-पृथक् हैं। सह्याचल और विन्ध्याचलके भिन्न होनेका कारण प्रतिभास भेद ही है। वह प्रतिभासभेद अवयव-अवयवी आदिमें भी पाया जाता है। प्रतिभासभेदका कारण भी लक्षणभेद है। कार्य, कारण आदिका लक्षण एक दूसरेसे भिन्न है, और वह भिन्न लक्षण भिन्न प्रतिभासका हेतु है। अतः प्रतिभासभेदके कारण अवयव-अवयवी आदिमें सर्वथा भेद माननेमें कोई बाधा नहीं है। कार्य-कारण आदिका देश भिन्न-भिन्न होनेसे भी उनमें भेद है। कार्य अपने अवयवोंमें रहता है, और कारण अपने देशमें रहता है। यही बात गुण-गुणी, अवयव-अवयवी आदिके विषयमें जानना चाहिए। जो लोग अभिन्न देशके कारण कार्य, कारण आदिमें तादात्म्य मानते हैं, उनका वैसा मानना प्रतीतिविरुद्ध है। क्योंकि उनमें न तो शास्त्रीय देशाभेद सिद्ध होता है, और लौकिक देशाभेद। ऐसा नैयायिक-वैशेषिकका मत है।

इस मतका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद्बहूनि वा ।
भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते ॥६२॥

इसी प्रकार अवयव-अवयवी आदिमें भी तादात्म्य होनेसे उक्त प्रकारका विकल्प नहीं किया जा सकता है।

नैयायिक-वैशेषिक एक ही धर्मको सामान्य भी मानते हैं, और विशेष भी मानते हैं। द्रव्यत्व सामान्य भी है, और विशेष भी है। द्रव्यत्व सब द्रव्योंमें रहनेके कारण सामान्य है, तथा गुण और कर्ममें न रहनेके कारण विशेष है। वे द्रव्यत्व, गुणत्व, आदिको अपर सामान्य कहते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि द्रव्यत्वमें दो अंश पाये जाते हैं, एक सामान्य और दूसरा विशेष। द्रव्यत्व न तो सर्वथा सामान्यरूप है, और न सर्वथा विशेषरूप। द्रव्यत्वके इन दोनों अंशोंमें तादात्म्य ही मानना चाहिये। न तो उनका परस्परमें समवाय है, और न द्रव्यत्वके साथ समवाय है। द्रव्यत्वके साथ भी उनका तादात्म्य ही है। इस प्रकार अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदिमें भी तादात्म्य होनेसे वे एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न नहीं हैं, किन्तु कथंचित् एक हैं।

भेद पक्षमें अन्य दोषोंको बतलानेके लिये आचार्य कहते हैं—

देशकालविशेषेऽपि स्याद्वृत्तिर्युतसिद्धवत् ।
समानदेशता न स्यात् मूर्तकारणकार्ययोः ॥६३॥

यदि अवयव-अवयवी, कार्य-कारण आदि एक दूसरेसे सर्वथा पृथक् हैं, तो पृथक्सिद्ध पदार्थोंकी तरह भिन्न देश और भिन्न कालमें उनकी वृत्ति (स्थिति) मानना पड़ेगी। क्योंकि मूर्त कारण और कार्यमें समानदेशता नहीं बन सकती है।

यदि अवयव-अवयवी आदिमें अत्यन्त भेद है, तो उनमें देशभेद, और कालभेद भी मानना होगा। अर्थात् अवयवी अन्य देशमें रहेगा, और अवयव किसी दूसरे देशमें रहेगा, अवयवका काल दूसरा होगा, और अवयवीका काल दूसरा होगा। घट और पट युतसिद्ध पदार्थ हैं। अतः उनका देश और काल भिन्न-भिन्न है। इसी प्रकार अवयव-अवयवी, कार्य-कारण आदिका भी देश और काल भिन्न-भिन्न होगा। कार्य-कारण आदिका काल एक होने पर भी उनका एक देश तो किसी भी प्रकार संभव नहीं है। क्योंकि जो मूर्त पदार्थ हैं, वे एक देशमें नहीं रह सकते हैं। घट और पट कभी भी एक देशमें नहीं पाये जाते हैं। घटका देश दूसरा है, और पटका देश दूसरा है। इसी प्रकार अवयव-अवयवी आदिके मूर्त होनेसे एक देशमें इनकी स्थिति असंभव है।

वैशेषिकका कहना है कि जिस प्रकार आत्मा और आकाशमें

सम्बन्धसे अवयवी अवयवोंमें, गुण गुणीमें, कार्य कारणमें, सामान्य सामान्यवान्‌में और विशेष विशेषवान्‌में रहता है। जिनमें समवाय सम्बन्ध पाया जाता है वे समवायी कहलाते हैं। जैसे अवयव और अवयवी समवायी हैं। समवायियोंमें आश्रय-आश्रयीभाव होता है। अवयव आश्रय है, और अवयवी आश्रयी है। समवाय सम्बन्धसे पट तन्तुओं में रहता है। वैशेषिकका कहना है कि समवायियोंके सर्वथा भिन्न होने पर भी उनमें आश्रय-आश्रयी भाव होनेके कारण उन्हें भिन्न-भिन्न देशमें रहनेकी स्वतन्त्रता नहीं है। यही कारण है कि उनमें देशभेद और कालभेद सम्भव नहीं है। अवयव और अवयवी पृथक् पृथक् हैं और समवायके द्वारा उनका परस्परमें सम्बन्ध होता है।

यहाँ प्रश्न यह है, कि समवाय अपने समवायियोंमें अन्य समवायसे रहता है या स्वतः। यदि समवाय अपने समवायियोंमें दूसरे समवायसे रहता है, तो उस समवायका सम्बन्ध भी समवायियोंके साथ तीसरे समवायसे होगा। इस प्रकार अनवस्था दोषका प्रसंग उपस्थित होता है। इस दोषके भयसे यदि ऐसा माना जाय कि समवाय समवायियोंमें अन्य सम्बन्धकी अपेक्षाके विना स्वतः रहता है, तो अवयवी भी अपने अवयवोंमें समवायकी अपेक्षाके विना स्वतः रहेगा। तव समवाय सम्बन्ध माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि यह कहा जाय कि समवाय अनाश्रित होनेसे अन्य सम्बन्धकी अपेक्षा नहीं रखता है, किन्तु असम्बद्ध ही रहता है, तो ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि जो स्वयं समवायिकोंके साथ असम्बद्ध है, वह अवयवोंका अवयवीके साथ सम्बन्ध कैसे करा सकता है। यदि असम्बद्ध पदार्थमें भी सम्बन्धकी कल्पनाकी जाय तो दिशा, काल आदिको भी सम्बन्ध मानना चाहिए। इस प्रकार यह निश्चित है कि समवायका अपने समवायियोंके साथ सम्बन्ध नहीं वन सकता है। अतः सत्तासामान्यकी कल्पनाकी तरह समवायकी कल्पना भी व्यर्थ है। प्रत्येक पदार्थ स्वतः सत् होता है। असत् पदार्थ सत्तासामान्यके योगसे कभी भी सत् नहीं हो सकता है। अन्यथा वन्ध्यापुत्र भी सत् हो जायगा। और जो स्वतः सत् है उसमें सत्तासामान्यकी कल्पना व्यर्थ ही है। इसलिए यह ठीक ही कहा है कि समवायियोंसे अयुक्त (असम्बद्ध) समवायको सम्बन्ध मानना युक्त नहीं है।

सामान्य और समवायका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

सामान्यं समवायश्चाप्येकैकत्र समाप्तितः ।
अन्तरेणाश्रयं न स्यान्नाशोत्पादिपु को विधिः ॥६५॥

लाभ नहीं है। इस प्रकार कार्य और कारणमें अभेदैकान्त मानना युक्ति और प्रतीतिविरुद्ध है।

उभयैकान्त तथा अवाच्यतैकान्तमें दोष बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥७०॥

स्याद्वादन्यायसे द्वेष रखनेवालोंके यहाँ विरोध आनेके कारण उभयैकात्म्य नहीं बन सकता है। और अवाच्यतैकान्तमें भी अवाच्य शब्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

अवयव-अवयवी आदि सर्वथा भिन्न हैं, और सर्वथा अभिन्न हैं, इस प्रकारका उभयैकान्त संभव नहीं है। क्योंकि उनमें परस्परमें विरोध होनेसे उनमें एकात्म्य अथवा तादात्म्य असंभव है। अनेकान्तवादमें अपेक्षाभेदसे भिन्न और अभिन्न पक्ष माननेमें कोई विरोध नहीं आता है, किन्तु एकान्तवादमें एक पक्ष ही माना जा सकता है, दोनों पक्षोंको मानना सर्वथा अनुचित है। ऐसा कैसे हो सकता है कि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तुसे सर्वथा भिन्न भी हो और सर्वथा अभिन्न भी हो। ऐसा माननेमें विरोध स्पष्ट है। इसी प्रकार अवाच्यतैकान्त पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि तत्त्वके सर्वथा अवाच्य होनेपर उसको 'अवाच्य' शब्दके द्वारा भी नहीं कहा जा सकता है। और यदि 'अवाच्य' शब्दके द्वारा उसका प्रतिपादन किया जाता है, तो वह अवाच्य नहीं रह सकता है।

इस प्रकार एकान्त पक्षमें अनेक दोष आते हैं। किन्तु स्याद्वादन्यायके मानने वालोंके यहाँ किसी भी दोषका आना संभव नहीं है! अवयव-अवयवी आदि कथंचित् भिन्न भी हैं और कथंचित् अभिन्न भी हैं। तत्त्व कथंचित् वाच्य भी है, और कथंचित् अवाच्य भी है। क्योंकि अपेक्षाभेदसे वस्तुमें अनेक धर्मोंके होनेमें कोई विरोध संभव नहीं है।

भेदैकान्त और अभेदैकान्तका निराकरण करके अनेकान्तकी सिद्धि करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः।
परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः ॥७१॥
संज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥७२॥

तो कोई प्रमाण है और न कोई युक्ति है। इसलिए द्रव्य और पर्यायको सर्वथा भिन्न तथा सर्वथा अभिन्न न मानकर कथंचित् भिन्न और कथंचित अभिन्न मानना ही श्रेयस्कर है।

द्रव्य और पर्यायमें अभेदसाधक हेतुको बतलाकर अब भेदसाधक हेतुओंको बतलाते हैं। द्रव्य और पर्याय भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि उनके परिणमनमें विशेषता पायी जाती है। द्रव्यमें अनादि और अनन्तरूपसे स्वाभाविक परिणमन होता रहता है। और पर्यायोंका जो परिणमन होता है, वह सादि और सान्त होता है। द्रव्य शक्तिमान् है, और पर्यायें शक्तिरूप हैं। एक की द्रव्य संज्ञा (नाम) है, और दूसरेकी पर्याय संज्ञा है। द्रव्य एक है, पर्यायें अनेक हैं, द्रव्यका लक्षण दूसरा है, और पर्यायका लक्षण दूसरा है। द्रव्यका प्रयोजन अन्वयज्ञानादि कराना है, और पर्यायोंका प्रयोजन व्यतिरेकज्ञानादि करना है। द्रव्य त्रिकालगोचर होता है, और पर्याय वर्तमानकालगोचर होती है। इत्यादि कारणोंसे द्रव्य और पर्याय कथंचित् नाना हैं। उक्त हेतुओंमें भिन्न लक्षणत्व प्रमुख हेतु है।

द्रव्यका लक्षण है—'गुणपर्ययवद् द्रव्यम् ।' जिसमें गुण और पर्यायें पायी जावें वह द्रव्य है। द्रव्य आश्रय है, गुण और पर्यायें आश्रयी है। द्रव्यका दूसरा लक्षण भी है—'सद्द्रव्यलक्षणम् ।' द्रव्यका लक्षण सत् है। अर्थात् जिसमें सत्त्व पाया जाय वह द्रव्य है। जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाया जाय वह सत् कहलाता है। द्रव्यमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाये जाता है। उत्पाद और व्यय द्रव्यकी पर्यायें ही हैं। पर्यायका लक्षण है—'तद्भावः परिणामः।' द्रव्यका जो परिणमन होता है, उसीका नाम परिणाम या पर्याय है। गुणका लक्षण है—'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः।' जो द्रव्यके आश्रित हों और गुण रहित हों वे गुण कहलाते हैं। गुण सहभावी होते हैं, और पर्यायें क्रमभावी। इस प्रकार द्रव्य और पर्यायका लक्षण भिन्न-भिन्न है। इसलिए लक्षणभेदके कारण द्रव्य और पर्यायमें नानात्वका सद्भाव मानना युक्तिसंगत है। ऐसा नहीं हो सकता है कि द्रव्य और पर्यायमें लक्षण भेद तो हो, किन्तु नानात्व न हो। विरोधी धर्मोंके पाये जानेसे तथा निर्बाध प्रतिभासभेदके होनेसे वस्तुके स्वभावमें भेद मानना आवश्यक है। यदि ऐसा न माना जाय तो संसारके सब पदार्थोंको भी एक मानना पड़ेगा।

उक्त कथनका फलितार्थ यह है कि लक्षणभेद आदिके कारण द्रव्य और पर्याय कथंचित् नाना हैं, और अशक्यविवेचनके कारण कथंचित्

पाँचवाँ परिच्छेद

आपेक्षिकान्त और अनापेक्षिकान्तका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं।

यद्यापेक्षिकसिद्धिः स्यान्न द्वयं व्यवतिष्ठते।
अनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्यविशेषता ॥७३॥

यदि पदार्थोंकी सिद्धि आपेक्षिक होती है, तो दोनोंकी सिद्धि नहीं हो सकती है। और अनापेक्षिक सिद्धि मानने पर उनमें सामान्य-विशेष-भाव नहीं बन सकता है।

इस कारिकामें इस बातपर विचार किया गया है कि धर्म, धर्मी आदिकी सिद्धि आपेक्षिक होती है या अनापेक्षिक। बौद्ध मानते हैं कि धर्म और धर्मीकी सिद्धि आपेक्षिक होती है। प्रत्यक्षबुद्धिमें कभी भी धर्म या धर्मीका प्रतिभास नहीं होता है। जो किसीकी अपेक्षासे धर्म है वही अन्य की अपेक्षासे धर्मी हो जाता है। किन्तु प्रत्यक्षके बाद होने वाली विकल्प-बुद्धिके द्वारा धर्म-धर्मी आदिके भेदकी कल्पना करली जाती है। 'शब्दः अनित्यः सत्त्वात्' 'सत् होनेसे शब्द अनित्य है।' यहाँ शब्दकी अपेक्षासे सत्त्व धर्म है, और शब्द धर्मी है, क्योंकि शब्दमें सत्त्व पाया जाता है। किन्तु वही सत्त्व ज्ञेयत्वकी अपेक्षासे धर्मी हो जाता है। 'सत्त्वं ज्ञेयं' 'सत्त्व ज्ञेय है।' यहाँ सत्त्व धर्मी है, और ज्ञेयत्व उसका धर्म है। इससे प्रतीत होता है कि धर्म-धर्मी व्यवहार काल्पनिक है। यदि धर्म और धर्मी वास्तविक होते तो धर्म सदा धर्म ही रहता और धर्मी सदा धर्मी ही रहता। पदार्थोंमें दूर और निकटकी कल्पना की जाती है। किसीकी अपेक्षासे वही पदार्थ दूर कहा जाता है, और अन्यकी अपेक्षासे वही पदार्थ निकट कहा जाता है। अतः आपेक्षिक होनेसे जिस प्रकार दूर और निकटकी कल्पना मिथ्या है, उसी प्रकार धर्म और धर्मीकी कल्पना भी मिथ्या है। प्रत्यक्षके द्वारा भी धर्म-धर्मीकी प्रतीति नहीं होती है। प्रत्यक्षके द्वारा जिस वस्तुका जैसा प्रतिभास होता है, वह वस्तु सदा वैसी ही रहती है। नील-स्वलक्षण अथवा ज्ञानस्वलक्षणका प्रतिभास सदा उसी रूपसे होता है, नीलका प्रतिभास कभी भी पीतरूपसे नहीं होता, और ज्ञानका प्रतिभास

उनको सर्वथा आपेक्षिक मानने पर वे गगनकुसुमकी तरह प्रतिनियत बुद्धिके विषय नहीं हो सकते हैं। धर्मादिकका ग्रहण सब असंगत है। क्योंकि धर्म-धर्मी आदिकी सत्ता सर्वथा निरपेक्ष माननेमें अनेक दोष आते हैं। यदि धर्म धर्मीसे सर्वथा निरपेक्ष हो, तो उसमें धर्म व्यवहार ही नहीं हो सकता है। उसको धर्म तभी कहते हैं, जब वह किसी धर्मीका धर्म होता है। इसी प्रकार धर्मीको भी धर्मसे सर्वथा निरपेक्ष होने पर वह धर्मी नहीं कहा जा सकता है। कोई धर्मी तभी होता है, जब उसमें किसी धर्मका सद्भाव हो। सामान्य और विशेषकी सिद्धि सर्वथा निर-पेक्ष मानने पर न सामान्य सिद्ध हो सकता है, और न विशेष। अन्वय अथवा अभेदको सामान्य कहते हैं, और व्यतिरेक अथवा भेदको विशेष कहते हैं। भेदनिरपेक्ष अभेद अन्वयबुद्धिका विषय नहीं होता है, और अभेद निरपेक्ष भेद व्यतिरेकबुद्धिका विषय नहीं होता है। सामान्यरहित विशेष और विशेषरहित सामान्य दोनों खरविषाणके समान असत् हैं। इसी प्रकार कार्य-कारण, गुण-गुणी आदिकी सत्ता भी यदि सर्वथा निरपेक्ष मानी जायगी तो, ऐसा मानने पर सबके अभावका प्रसग उपस्थित होता है। कारणनिरपेक्ष कार्य और कार्यनिरपेक्ष कारण, गुणीनिरपेक्ष गुण और गुणनिरपेक्ष गुणी आदिकी कल्पना कैसे की जा सकती है। अतः धर्म, धर्मी आदिकी सत्ता सर्वथा आपेक्षिक अथवा सर्वथा अनापेक्षिक मानना किसी भी प्रकार उचित नहीं है।

उभयैकान्त तथा अवाच्यतैकान्तमें दूषण बतलानेके लिये आचार्य कहते हैं—

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥७४॥

स्याद्वादन्यायसे द्वेष रखनेवालोंके यहाँ विरोध आनेके कारण उभयै-कात्म्य नहीं बन सकता है। और अवाच्यतैकान्तपक्षमें भी 'अवाच्य' शब्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

धर्म-धर्मी आदिकी सत्ता सर्वथा सापेक्ष है, यह एक एकान्त है। उनकी सत्ता सर्वथा निरपेक्ष है, यह दूसरा एकान्त है। ये दोनों एकान् एक साथ नहीं माने जा सकते। क्योंकि ऐसा माननेमें विरोध है। य धर्म-धर्मीकी सत्ता सर्वथा सापेक्ष है, तो उसे निरपेक्ष नहीं माना

मानते हैं। और जैन कालासुरको वेदका कर्ता मानते हैं। इसलिए वेदका कोई कर्ता नहीं है, ऐसा कहने मात्रसे वेदमें कर्ताका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है।

मीमांसक मानते हैं कि वेद अपौरुषेय है। और वेदका अध्ययन सदा वेदके अध्ययन पूर्वक होता चला आया है। क्योंकि वह वेदका अध्ययन है, जैसे कि वर्तमानकालीन वेदका अध्ययन[1]। किसीने वेदको बनाकर वेदका अध्ययन नहीं कराया। किन्तु यही बात पिटकत्रय आ[दि] ग्रन्थोंके विषयमें भी कही जा सकती है। ऐसा कहनेमें कोई भी ब[ाधक] नहीं है कि पिटकत्रयका अध्ययन उनके अध्ययन पूर्वक ही होता आय[ा है] और किसीने बनाकर उनका अध्ययन नहीं कराया। इसलिए वेदके [समान] पिटकत्रयको भी अपौरुषेय मानना चाहिए, अथवा पिटकत्रयके [समान] वेदको भी पौरुषेय मानना चाहिए। वेदमें जो अतिशय पाये जाते ह[ैं वे] सब अतिशय पिटकत्रय आदिमें भी पाये जाते हैं। वैदिक मंत्रोंमें जो शक्ति है, वह अन्य मंत्रोंमें भी है। ऐसा नहीं है कि वैदिक मंत्रोंका प्रयोग करनेमें ही उनका फल मिलता है, और अन्य मंत्रोंका प्रयोग करनेसे उनका फल नहीं मिलता है। मीमांसक वेदको अनादि मानते हैं। किन्तु अपौरुषेयत्वकी तरह वेदमें अनादित्व भी सिद्ध नहीं हो सकता है। थोड़ी देरके लिए वेदको अनादि मान भी लिया जा, फिर भी वेदमें पौरुषेयत्वके अभावमें अविसंवादिता नहीं आ सकती है। यदि अनादि होनेसे ही कोई बात प्रमाण हो तो मातृविवाहादिरूप म्लेच्छव्यवहार तथा चोरी व्यभिचार आदिको भी प्रमाण मानना चाहिए[2]। वेदको अपौरुषेय मानने पर भी उसमें प्रमाणता नहीं आ सकती है, क्योंकि प्रमाणताके कारणभूत गुण वेदमें नहीं हैं। गुणोंका आश्रय पुरुष है। और पुरुषके अभावमें वेदमें गुण कैसे आ सकते हैं।

मीमांसकोंका कहना है कि वेदका कोई कर्ता न होनेसे वेदमें दोषोंका अभाव है। दोषोंका होना पुरुषके आश्रित है। और जब वेदका [illegible]

सप्तम परिच्छेद

अन्तरङ्ग अर्थको ही प्रमाण माननेवालोंके मतका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

अन्तरङ्गार्थतैकान्ते बुद्धिवाक्यं मृषाऽखिलम् ।
प्रमाणाभासमेवातस्तत्प्रमाणादृते कथम् ॥७९॥

केवल अन्तरङ्ग अर्थकी ही सत्ता है, ऐसा एकान्त माननेपर सब बुद्धि और वाक्य मिथ्या हो जावेंगे। और मिथ्या होनेसे वे प्रमाणाभास ही होंगे। किन्तु प्रमाणके विना कोई प्रमाणाभास कैसे हो सकता है।

इस कारिकाके द्वारा ज्ञानाद्वैतका खण्डन किया गया है। ज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं कि अन्तरङ्ग अर्थ (ज्ञान) ही सत्य है, और जड़रूप वहिरङ्ग अर्थ असत्य है, क्योंकि उसमें स्वयं प्रतिभासित होनेकी योग्यता नहीं है। जो स्वयं प्रतिभासित नहीं होता है, वह सत्य नहीं है। ज्ञानाद्वैतवादियोंका उक्त कथन युक्तिसंगत नहीं है। यदि अन्तरङ्ग अर्थ ही सत्य है, तो बुद्धि और वाक्य भी मिथ्या हो जाँयगे। यहाँ बुद्धिका तात्पर्य अनुमानसे है, तथा वाक्यका तात्पर्य आगमसे है। जब ज्ञानको छोड़कर अन्य कोई वस्तु सत्य नहीं है, तो अनुमान और आगम कैसे सत्य हो सकते हैं। असत्य होनेसे अनुमान और आगम प्रमाणाभास होंगे। क्योंकि जो सत्य है वह प्रमाण होता है, और जो असत्य है वह प्रमाणाभास होता है। किन्तु प्रमाणभास व्यवहार प्रमाणके होनेपर ही हो सकता है। जब ज्ञानाद्वैतवादियोंके यहाँ कोई प्रमाण ही नहीं है, तो बुद्धि और वाक्यको प्रमाणाभास कैसे कह सकते हैं।

ज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं कि एक अद्वितीय ज्ञानका ही वेद्य-वेदकरूपसे प्रतिभास होता है। अन्य लोग वेद्य और वेदकका जैसा लक्षण मानते हैं, वह ठीक नहीं है। अर्थ वेद्य है, और अर्थग्राहक ज्ञान वेदक है, अथवा ज्ञानगत नीलाकार वेद्य है, और नीलाकार ज्ञान वेदक है, इत्यादि प्रकारसे वेद्य और वेदकका लक्षण माना गया है। सौत्रान्तिक मानते हैं कि जो अर्थसे उत्पन्न हो, अर्थके आकार हो, और जिसमें अर्थका अध्यवसाय हो, वह ज्ञान है। यह लक्षण ठीक नहीं है। ज्ञान चक्षुसे उत्पन्न

यदि किसी प्रमाणसे विज्ञानाद्वैतकी सिद्धि होती है, तो उसी प्रमाणसे वहिरर्थकी भी सिद्धि होनेमें कौनसी वाधा है। स्वपक्षकी सिद्धि और परपक्षमें दूपण देनेके लिए किसी प्रमाणभूत ज्ञानको मानना परमावश्यक है। प्रमाणके अभावमें विज्ञानमें सत्यता और वहिरर्थोंमें असत्यता सिद्ध नहीं हो सकती है। विज्ञानाद्वैतवादीका यह कहना भी ठीक नहीं है कि जो ग्राह्याकार और ग्राहकाकार होता है, वह भ्रान्त होता है, जैसे स्वप्नज्ञान, इन्द्रजाल आदिका ज्ञान। और स्वप्नज्ञानकी तरह प्रत्यक्ष आदि भी भ्रान्त हैं। यहाँ हम विज्ञानाद्वैतवादीसे पूँछ सकते हैं कि स्वप्नज्ञानमें भ्रान्तताका ग्राहक जो ज्ञान है, वह भ्रान्त है, या अभ्रान्त। यदि भ्रान्त है, तो भ्रान्त ज्ञानके द्वारा स्वप्नज्ञान आदिमें भ्रान्तता सिद्ध नहीं हो सकती है। और यदि वह ज्ञान अभ्रान्त है, तो उसीकी तरह प्रत्यक्षादिको भी अभ्रान्त मानना चाहिए।

इसलिए यदि विज्ञानमात्र ही तत्त्व है, तो यह निश्चित है कि अनुमान, आगम आदि सव मिथ्या हैं। अर्थात् प्रमाणभास हैं। किन्तु प्रमाणाभास प्रमाणके विना नहीं हो सकता है। ऐसी स्थितिमें विज्ञानाद्वैतवादीको प्रमाणका सद्भाव अवश्य मानना पड़ेगा। विज्ञानमात्रकी सिद्धिके लिए भी प्रमाणका सद्भाव मानना आवश्यक है। और जब प्रमाणका सद्भाव मान लिया तो उस प्रमाणसे जैसे अन्तरङ्ग अर्थकी सिद्धि होती है, वैसे ही वहिरङ्ग अर्थकी भी सिद्धि हो सकती है। अतः केवल अन्तरङ्ग अर्थका सद्भाव मानना युक्तिविरुद्ध एवं असंगत है।

यदि माना जाय कि अनुमानसे विज्ञप्तिमात्रताकी सिद्धि होती है, तो अनुमानमें भी साध्य और साधनकी विज्ञप्तिको विज्ञानरूप माननेमें जो दोप आते हैं, उन्हें वतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

साध्यसाधनविज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्तिमात्रता ।
न साध्यं न च हेतुश्च प्रतिज्ञाहेतुदोषतः ॥८०॥

साध्य और साधनके ज्ञानको यदि विज्ञानमात्र ही माना जाय तो प्रतिज्ञादोप और हेतुदोषके कारण न कोई साध्य वन सकता है और न हेतु।

विज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं कि अर्थ और ज्ञानमें अभेद है, क्योंकि अर्थ

सद्भाव होनेसे हेतु व्यभिचारी हो जाता है। और व्यभिचारी हेतुसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि अर्थप्राकट्य ज्ञानका धर्म है, तो वह ज्ञानके समान ही अप्रत्यक्ष होगा। तब उसके द्वारा भी परोक्ष ज्ञानकी सिद्धि कैसे हो सकती है।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष अथवा मानस प्रत्यक्षसे भी ज्ञानकी सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि इन्द्रियादि प्रत्यक्ष भी अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्ष) होनेसे अप्रत्यक्ष ज्ञानके समान ही हैं, परोक्ष ज्ञानसे उनमें कोई विशेषता नहीं है। यदि इन्द्रियादि प्रत्यक्षमें परोक्ष ज्ञानसे स्वसंवेदनरूप विशेषता पायी जाती है, तो इन्द्रियादि प्रत्यक्षसे ही अर्थकी परिच्छित्ति हो जायगी। तब परोक्ष ज्ञानको माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिए ज्ञान चाहे प्रत्यक्ष हो या परोक्ष, सबका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है। ज्ञानको अप्रत्यक्ष कहना प्रत्यक्ष एवं अनुमान विरुद्ध है। आत्मामें जो सुख और दुःखका ज्ञान होता है, वह यदि प्रत्यक्ष न हो तो आत्मामें सुखके निमित्तसे हर्ष और दुःखके निमित्तसे विषाद नहीं होना चाहिए। जैसे कि एक आत्माके सुख और दुःखसे आत्मान्तरमें हर्ष और विषाद नहीं होता है। इसलिए सब ज्ञानोंका स्वसंवेदन मानना परमावश्यक है। और स्वसंवेदनकी अपेक्षासे सब ज्ञान प्रमाण हैं, कोई भी ज्ञान प्रमाणाभास नहीं है।

बौद्ध संवेदनका प्रत्यक्ष मानकर भी यह कहते हैं कि संवेदन प्रतिक्षण निरंश होता है। अर्थात् एक क्षणवर्ती संवेदनका दूसरे क्षणवर्ती संवेदनके साथ कोई अन्वय नहीं है। उनका ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि जैसा वे मानते हैं, वैसा अनुभव नहीं होता है और जैसा अनुभव होता है, वैसा वे मानते नहीं हैं। प्रत्यक्षसे अनुभूयमान सुख-दुःखादिबुद्धिरूप स्थिर आत्मामें ही हर्ष, विषाद आदिका अनुभव होता है। यदि ऐसा माना जाय कि यह अनुभव भ्रान्त है, तो प्रश्न होता है कि वह सर्वथा भ्रान्त है या कथंचित्। सर्वथा भ्रान्त माननेपर बाह्य अर्थकी तरह स्वरूपमें भी भ्रान्त होनेसे वह अप्रत्यक्ष ही रहेगा। और ऐसा होनेपर परोक्षज्ञानवाद-का प्रसंग उपस्थित होगा। और उक्त अनुभवको कथंचित् भ्रान्त माननेपर स्याद्वादन्यायका ही अनुसरण करना पड़ेगा। केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें ही परोक्ष ज्ञानसे समानता नहीं है, किन्तु निर्विकल्पकके व्यवस्थापक सविकल्पकमें भी यही बात है। यदि सविकल्पक भी सर्वथा भ्रान्त है, तो बाह्य अर्थकी तरह स्वरूपमें भी भ्रान्त होनेसे वह अप्रत्यक्ष ही होगा। क्योंकि 'अभ्रान्तं प्रत्यक्षम्' प्रत्यक्ष अभ्रान्त होता है, ऐसा बौद्धोंने माना

बौद्ध शब्दका उपादान (आश्रय अथवा वाच्य) अभाव (अन्यापोह) को मानते हैं। उनका ऐसा मानना सर्वथा अनुचित है। शब्दका उपादान अभाव तभी हो सकता है, जब पहले उसका उपादान भाव माना जाय। गो शब्द पहले गौका कथन करके ही अन्य पदार्थोंका निषेध करता है। गो शब्दका वाच्य गौ भी है, और अगोव्यावृत्ति भी है। किन्तु मुख्य वाच्य गौ ही है, अगोव्यावृत्ति तो गौणरूपसे गो शब्दका वाच्य है। अतः शब्दका उपादान अभाव नहीं है, किन्तु भाव ही है। इसलिए समस्त संज्ञाओंका अपना वास्तविक बाह्य अर्थ मानना आवश्यक है। माया आदि भ्रान्ति-संज्ञाओंका भी भ्रान्तिरूप बाह्य अर्थ होता है। यदि माया आदि भ्रान्ति-संज्ञाओंका भ्रान्तिरूप बाह्य अर्थ न हो तो उनके द्वारा भ्रान्तिरूप अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है। और ऐसा होनेपर भ्रान्ति-संज्ञाओंमें भी प्रमाणत्वका प्रसंग उपस्थित होगा। अर्थात् भ्रान्तिको भी सम्यग्ज्ञान मानना पड़ेगा। अतः जिस प्रकार प्रमाका ज्ञानरूप बाह्य अर्थ है, उसीप्रकार माया आदि भ्रान्तिसंज्ञाओंका भी भ्रान्तिरूप बाह्य अर्थ है। खरविषाण, गगनकुसुम आदि संज्ञाओंका भी अपना बाह्य अर्थ होता है। उनका बाह्य अर्थ अभाव है। अभावरूप बाह्य अर्थके न माननेपर उनके भावका प्रसंग उपस्थित होता है। जब सब संज्ञाओंका बाह्य अर्थ पाया जाता है, तो जीव शब्दका भी वस्तुभूत बाह्य अर्थ मानना आवश्यक है। और वह अर्थ हर्ष, विषाद, सुख, दुःख आदि अनेक पर्यायरूप है, ज्ञान-दर्शनवान् है, प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न है, एवं प्रत्येक प्राणीको स्वानुभवगम्य है।

संज्ञात्व हेतुको निर्दोष सिद्ध करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्तास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचिकाः ।
तुल्या बुद्ध्यादिबोधाश्च त्रयस्तत्प्रतिबिम्बकाः ॥८५॥

बुद्धि संज्ञा, शब्द संज्ञा और अर्थ संज्ञा ये तीन संज्ञाएँ क्रमशः बुद्धि, शब्द और अर्थकी समानरूपसे वाचक हैं। और उन संज्ञाओंके प्रतिबिम्बस्वरूप बुद्धि आदिका बोध भी समानरूपसे होता है।

मीमांसक कहते हैं —'अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामानः' अर्थ, शब्द और ज्ञान ये तीनों समान संज्ञाएँ हैं। अतः जीव अर्थ, जीव शब्द और जीव बुद्धि इन तीनोंकी जीवसंज्ञा है। उनमेंसे जीव अर्थ-वाचक जीव शब्दका ही बाह्य अर्थ पाया जाता है, शब्द और बुद्धि-वाचक जीव शब्दका कोई बाह्य अर्थ नहीं है। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि जो संज्ञा

वक्तृश्रोतृप्रमातृणां बोधवाक्यप्रमाः पृथक् ।
भ्रान्तावेव प्रमाभ्रान्तौ बाह्यार्थौ तादृशेतरौ ॥८६॥

वक्ता, श्रोता और प्रमाताको जो बोध, वाक्य और प्रमा होते हैं वे सब पृथक्-पृथक् व्यवस्थित हैं। प्रमाणके भ्रान्त होने पर अन्तर्ज्ञेय और बहिर्ज्ञेयरूप बाह्य अर्थ भी भ्रान्त ही होंगे।

पहले वक्ता वाक्यका उच्चारण करता है, बादमें श्रोताको वाक्यार्थ-का बोध होता है। तदनन्दर प्रमाताको प्रमिति होती है। यदि वक्ताको अभिधेयका ज्ञान न हो तो वाक्यकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि वाक्यकी प्रवृत्तिका कारण अभिधेयका बोध ही है। वाक्यके अभावमें श्रोताको भी अभिधेयका ज्ञान नहीं हो सकता है। और यदि प्रमाताको प्रमिति न हो तो प्रमेयकी सिद्धि नहीं हो सकती है। वक्ता आदि एवं वाक्य आदिके अभावमें विज्ञानाद्वैतवादी भी अपने इष्ट तत्त्वकी सिद्धि नहीं कर सकता है। इसलिए वक्ता, वाक्य आदिका सद्भाव मानना आव-श्यक है। अतः संज्ञात्व हेतु असिद्ध नहीं है, और दृष्टान्त भी साधन-विकल नहीं है।

यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी पुनः कह सकता है कि बाह्य अर्थका अभाव होनेसे वक्ता आदि बुद्धिसे पृथक् नहीं हैं, किन्तु बुद्धिरूप ही हैं। क्योंकि वक्ता आदिके आकाररूप बुद्धिमें ही वक्ता आदिका व्यवहार होता है, बोधके अतिरिक्त वाक्यका भी कोई अस्तित्व नहीं है, और प्रमा तो बोधरूप है ही। अतः हेतुमें असिद्धता और दृष्टान्तमें साधनविकलता बनी ही रहती है।

विज्ञानाद्वैतवादीका उक्त कथन युक्तिसंगत नहीं है। विज्ञानाद्वैत-वादी रूपादि अभिधेयको तथा इसके ग्राहक वक्ता और श्रोताको मिथ्या मानता है। और इन सबसे पृथक् विज्ञानसन्तानको सत्य मानता है। तथा स्वांशमात्रावलम्वी ज्ञानको प्रमाण मानता है। यदि रूपादि अभि-धेय और उसके ग्राहक वक्ता तथा श्रोता मिथ्या हैं, तो इन सबसे पृथक् विज्ञानसन्तानकी सिद्धि भी नहीं हो सकती है। विज्ञानको स्वां-शमात्रावलम्वी होनेके कारण विज्ञानसन्तानके अनेक अंशोंमें परस्परमें संचार (गमकत्व) न होनेसे अभिधान ज्ञान और अभिधेय ज्ञानका भेद भी नहीं बन सकता है। और स्वांशमात्रावलम्वी ज्ञानको भी यदि विभ्रमरूप माना जाय तो प्रमाणरूप ज्ञानकी सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि

है। बाह्य अर्थके अभावमें स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष दूषणका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता है। बाह्य अर्थके अभावमें भी यदि साधन और दूषणका प्रयोग किया जाय तो स्वप्नप्रत्यय और जाग्रत् प्रत्ययमें भी कोई भेद नहीं रहेगा। फिर किसी प्रमाणके द्वारा किसीकी सिद्धि और किसी में दूषण कैसे संभव है। बाह्य अर्थके अभावमें भी साधनका प्रयोग करनेसे विज्ञानाद्वैतवादी सहोपलंभनियमरूप हेतुसे विज्ञानाद्वैतकी सिद्धि कैसे कर सकेगा। क्योंकि विज्ञानके अभावमें भी साधनका प्रयोग संभव है। सन्तानान्तरकी सिद्धि भी कैसे हो सकेगी। स्वसन्तानकी सिद्धि तथा स्वप्नज्ञानमें अविसंवाद आदिकी सिद्धि भी कैसे हो सकेगी। मानना पड़ता है कि बाह्य अर्थके अभावमें भी साधन और दूषणका प्रयोग [illegible] किसी भी अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती है। यतः साधन और दूषणका प्रयोग देखा जाता है, अतः बाह्य अर्थका सद्भाव मानना आवश्यक है।

विज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं कि जैसे तिमिर रोग वाले पुरुषको एक चन्द्रमें भी दो चन्द्रका ज्ञान हो जाता है, किन्तु वह ज्ञान भ्रान्त है, इसी [illegible]

[illegible]

होनेपर भी वासनाभेदसे सब काम बन जाता है, उसी प्रकार जाग्रत् अवस्थामें वासनाके दृढ़ होनेसे संतानान्तरका जो ज्ञान होता है, वह सत्य है और स्वप्न अवस्थामें वासनाके दृढ़ न होनेसे संतानान्तरका जो ज्ञान होता है, वह है। इस प्रकार सन्तानान्तरका सद्भाव वासनाभेदसे ही मानना चाहिए, संतानान्तरके सद्भावसे नहीं। और संतानान्तर-के अभावमें स्वसंतानकी भी सिद्धि नहीं हो सकती है। इसलिए ऐसा ज्ञान मानना आवश्यक है, जो अपने इष्ट तत्त्वका अवलम्बन करता हो। और इस प्रकारके ज्ञानका सद्भाव माननेपर बाह्य अर्थको अवलम्बन करनेवाले ज्ञानके सद्भावकी सिद्धि होनेमें कोई बाधा नहीं है। यथार्थमें बाह्य अर्थके सद्भावमें ही कोई ज्ञान प्रमाण और कोई ज्ञान अप्रमाण होता है। यदि ज्ञानके द्वारा ज्ञात अर्थकी प्राप्ति होती है, तो वह प्रमाण है, और अर्थकी प्राप्तिके अभावमें वह अप्रमाण है।

इस प्रकार बाह्य अर्थकी सिद्धि होने पर वक्ता, श्रोता और प्रमाता-की सिद्धि नियमसे होती है, तथा उनमें बोध, वाक्य और प्रमाकी भी सिद्धि होती है। और जीव शब्दका बाह्य अर्थ भी सिद्ध हो जाता है। इसलिए सब ज्ञान कथंचित् अभ्रान्त हैं, क्योंकि स्वसंवेदनकी अपेक्षासे सब ज्ञान प्रमाण हैं। कथंचित् भ्रान्त हैं, क्योंकि बाह्य अर्थके सद्भावमें ही प्रमाणता और प्रमाणाभासता देखी जाती है। यदि बाह्य अर्थमें विसं-वाद पाया जाता है तो वह ज्ञान अप्रमाण है, और अविसंवादक होने पर वह प्रमाण है। इसी प्रकार ज्ञान कथंचित् भ्रान्त और अभ्रान्त है, कथं-चित् अवक्तव्य है, इत्यादि प्रकारसे पहलेकी तरह सप्तभंगीकी प्रक्रियाको [illegible] चाहिए।

अतः पुरुषार्थ निष्फल नहीं है, तो ऐसा कहनेसे पूर्ववत् प्रतिज्ञाहानि का प्रसंग उपस्थित होता है। क्योंकि पुरुषार्थसे मोक्ष मानने पर 'दैवसे ही अर्थकी सिद्धि होती है' इस सिद्धान्त को छोड़ना पड़ेगा। यदि पुनः यह माना जाय कि मोक्षके कारण पौरुष को दैवकृत होने से परम्परासे मोक्ष भी दैवकृत ही होता है, और ऐसा माननेपर प्रतिज्ञाहानि भी नहीं होती है, तो इससे यही सिद्ध होता है कि पौरुषसे ही वैसा दैव उत्पन्न हुआ। और ऐसा मानने पर 'धर्मसे ही अभ्युदय तथा निःश्रेयसकी सिद्धि होती है' ऐसा एकान्त निरस्त हो जाता है। दैवैकान्तमें महेश्वरकी सिसृक्षाके व्यर्थ होनेका प्रसंग भी उपस्थित होता है। जब सृष्टिकी उत्पत्ति दैवाधीन है तब महेश्वर सिसृक्षा (सृष्टि रचनेकी इच्छा) का कारण कैसे हो सकता है। अतः दैवैकान्त का पक्ष युक्तिसंगत नहीं है।

एक दैवैकान्त निम्न प्रकार भी है। जो स्वयं प्रयत्न नहीं करता है, उसको इष्ट और अनिष्ट अर्थकी प्राप्ति अदृष्टमात्रसे होती है। और जो प्रयत्न करता है उसको प्रयत्न नामक दृष्ट पौरुषसे इष्ट और अनिष्ट अर्थकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार का पाक्षिक दैवैकान्त भी श्रेयस्कर नहीं है। क्योंकि कृषि आदि कार्य के लिए समानरूपसे प्रयत्न करने वालों में से किसी को फल प्राप्ति होती है और किसी को नहीं होती है। इससे यही सिद्ध होता है अदृष्ट (दैव) भी वहाँ कारण होता है। उसी प्रकार प्रयत्न न करने वालों को अर्थ की प्राप्ति हो जाने पर भी विना प्रयत्नके वे उसका उपभोग नहीं कर सकते हैं। अतः प्रत्येक कार्य में दृष्ट और अदृष्ट दोनों कारण होते हैं।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि पुरुषार्थसे ही सब अर्थोंकी सिद्धि होती है। उनके मतका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

पौरुषादेवसिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम्।
पौरुषाच्चेदमोघं स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥८९॥

यदि पौरुषसे ही अर्थकी सिद्धि होती है, तो दैवसे पौरुषकी सिद्धि कैसे होगी। और पौरुषसे ही पौरुषकी सिद्धि मानने पर सब प्राणियोंके पुरुषार्थ को सफल होना चाहिए।

यदि सब पदार्थोंकी सिद्धि पुरुषार्थसे ही होती है, तो प्रश्न यह है कि पुरुषार्थकी सिद्धि कैसे होती है। पौरुषसे ही सब पदार्थोंकी सिद्धि मान बाद दैवसे पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं मान सकते हैं। क्योंकि ऐसा मान

अतः पुरुषार्थ निष्फल नहीं है, तो ऐसा कहनेसे पूर्ववत् प्रतिज्ञाहानि का प्रसंग उपस्थित होता है। क्योंकि पुरुषार्थसे मोक्ष मानने पर 'दैवसे ही अर्थकी सिद्धि होती है' इस सिद्धान्त को छोड़ना पड़ेगा। यदि पुनः यह माना जाय कि मोक्षके कारण पौरुष को दैवकृत होने से परम्परासे मोक्ष भी दैवकृत ही होता है, और ऐसा माननेपर प्रतिज्ञाहानि भी नहीं होती है, तो इससे यही सिद्ध होता है कि पौरुषसे ही वैसा दैव उत्पन्न हुआ। और ऐसा मानने पर 'धर्मसे ही अभ्युदय तथा निःश्रेयसकी सिद्धि होती है' ऐसा एकान्त निरस्त हो जाता है। दैवैकान्तमें महेश्वरकी सिसृक्षाके व्यर्थ होनेका प्रसग भी उपस्थित होता है। जब सृष्टिकी उत्पत्ति दैवाधीन है तब महेश्वर सिसृक्षा (सृष्टि रचनेकी इच्छा) का कारण कैसे हो सकता है। अतः दैवैकान्त का पक्ष युक्तिसंगत नहीं है।

एक दैवैकान्त निम्न प्रकार भी है। जो स्वयं प्रयत्न नहीं करता है, उसको इष्ट और अनिष्ट अर्थकी प्राप्ति अदृष्टमात्रसे होती है। और जो प्रयत्न करता है उसको प्रयत्न नामक दृष्ट पौरुषसे इष्ट और अनिष्ट अर्थकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार का पाक्षिक दैवैकान्त भी श्रेयस्कर नहीं है। क्योंकि कृषि आदि कार्य के लिए समानरूपसे प्रयत्न करने वालों में से किसी को फल प्राप्ति होती है और किसी को नहीं होती है। इससे यही सिद्ध होता है अदृष्ट (दैव) भी वहाँ कारण होता है। उसी प्रकार प्रयत्न न करने वालों को अर्थ की प्राप्ति हो जाने पर भी विना प्रयत्नके वे उसका उपभोग नहीं कर सकते हैं। अतः प्रत्येक कार्य में दृष्ट और अदृष्ट दोनों कारण होते हैं।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि पुरुषार्थसे ही सब अर्थोंकी सिद्धि होती है। उनके मतका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

पौरुषादेवसिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम् ।
पौरुषाच्चेदमोघं स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥८९॥

यदि पौरुषसे ही अर्थकी सिद्धि होती है, तो दैवसे पौरुषकी सिद्धि कैसे होगी। और पौरुषसे ही पौरुषकी सिद्धि मानने पर सब प्राणियोंके पुरुषार्थ को सफल होना चाहिए।

यदि सब पदार्थोंकी सिद्धि पुरुषार्थसे ही होती है, तो प्रश्न यह है कि पुरुषार्थकी सिद्धि कैसे होती है। पौरुषसे ही सब पदार्थोंकी सिद्धि मानने वाले केवल पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं मान सकते हैं। क्योंकि ऐसा माननेसे

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥९०॥

स्याद्वादन्यायसे द्वेष रखने वालोंके यहाँ विरोध आनेके कारण उभयैकात्म्य नहीं बनता है। और अवाच्यतैकान्तमें भी 'अवाच्य' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

दैवैकान्त और पौरुषैकान्त ये दो एकान्त सर्वथा विरोधी हैं। यदि सब अर्थोंकी सिद्धि दैवसे ही होती है, तो पौरुषसे अर्थोंकी सिद्धि होनेमें विरोध है। और यदि पौरुषसे ही सब अर्थोंकी सिद्धि होती है, तो दैवसे अर्थोंकी सिद्धि होनेमें विरोध है। एक साथ दोनों एकान्त किसी भी प्रकार संभव नहीं हैं। जो लोग पदार्थोंकी सिद्धिके विषयमें अवाच्यतैकान्त मानते हैं, उनका वैसा मानना भी उचित नहीं है। क्योंकि अवाच्यतैकान्तमें अवाच्य शब्दका प्रयोग संभव नहीं है। यदि अर्थ सर्वथा अवाच्य है, तो अवाच्य शब्दका वाच्य कैसे हो सकता है। इस प्रकार उभयैकान्त और अवाच्यतैकान्त दोनों असंगत हैं।

एकान्तका निराकरण करके अनेकान्तकी सिद्धि करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः ।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥९१॥

किसी को अबुद्धिपूर्वक जो इष्ट और अनिष्ट अर्थकी प्राप्ति होती है वह अपने दैवसे होती है। और बुद्धिपूर्वक जो इष्ट और अनिष्ट अर्थकी प्राप्ति होती है वह अपने पौरुषसे होती है।

विना विचारे ही अथवा विना इच्छाके ही जो वस्तु प्राप्त हो जाती है, चाहे वह अनुकूल हो या प्रतिकूल, वह दैवसे प्राप्त होती है। अर्थात् इस प्रकारकी प्राप्तिका प्रधान कारण दैव होता है, और वहाँ पुरुषार्थ गौणरूपसे विद्यमान रहता है। ऐसा नहीं है कि वहाँ पुरुषार्थका सर्वथा अभाव रहता हो। इसीप्रकार विचार पूर्वक जो वस्तुकी प्राप्ति होती है, चाहे वह अनुकूल हो या प्रतिकूल, उस प्राप्तिका प्रधान कारण पुरुषार्थ है, और दैव वहाँ गौणरूपसे कारण होता है। दैवका वहाँ सर्वथा अभाव नहीं रहता है। किसी भी पदार्थकी सिद्धि न तो सर्वथा दैवसे होती है, और न सर्वथा पुरुषार्थसे, किन्तु दोनोंकी अपेक्षासे ही सिद्धि होती है।

अब यहाँ यह विचार करना है कि दैवका अर्थ क्या है, और पुरु-

कोई विरोध नहीं है। क्योंकि संक्लेश और विशुद्धिके कारण और कार्य होनेसे कायादि योग संक्लेशका अथवा विशुद्धिका अंग हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि स्व-परको सुख-दुःखकी कारणभूत कायादि क्रियाएँ यदि संक्लेशके कारण, कार्य और स्वभावरूप होती हैं, तो वे संक्लेशका अंग होनेके कारण, विषभक्षणादिरूप कायादिक्रियायोंकी तरह, प्राणियों-को अशुभ फलदायक कर्मके बन्धका कारण होती हैं। और यदि वे ही क्रियायें विशुद्धिके कारण कार्य और स्वभावरूप होती हैं, तो विशुद्धिका अंग होनेके कारण, पथ्य आहारादिरूप कायादिक्रियायोंकी तरह, प्राणियोंको शुभ फलदायक कर्मके बन्धका कारण होती हैं। इस प्रकार उक्त कारिकामें संक्षेपमें शुभाशुभरूप पुण्य-पापकर्मोंके आस्रव और बन्धका कारण सूचित किया गया है।

इस प्रकार स्व और परमें होनेवाले सुख और दुःख कथंचित् (विशुद्धिके अंग होनेकी अपेक्षासे) पुण्यास्रवके कारण होते हैं। कथंचित् (संक्लेशके अंग होनेकी अपेक्षासे) पापास्रवके कारण होते हैं। कथंचित् (दोनोंकी क्रमशः विवक्षासे) पुण्यास्रव और पापास्रव दोनोंके कारण होते हैं। और कथंचित् (दोनोंकी युगपत् विवक्षासे) अवाच्य होते हैं। इत्यादि प्रकारसे स्व-परस्थ सुख और दुःखको पुण्यास्रव और पापास्रवके कारण होनेके विषयमें सप्तभंगीकी प्रक्रियाको पूर्ववत् लगा लेना चाहिए।

कर्ता कहना कितने आश्चर्य की बात है।

जिस प्रकार एक स्वभाववाला ईश्वर संसारका कर्ता नहीं हो सकता है, उसी प्रकार ईश्वरकी एक स्वभाव युक्त इच्छा भी संसारका कारण नहीं है। नित्य, अपरिणामी और एकस्वभाववाली इच्छामें तत्कुल ही संभव नहीं है, फिर उससे विचित्र कार्योंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है। नित्य इच्छाका ईश्वरके साथ सम्बन्ध भी नहीं बन सकता है। क्योंकि ईश्वरके द्वारा इच्छाका कुछ भी उपकार नहीं होता है, और उपकारके अभावमें उन दोनोंमें सम्बन्ध कैसे होगा। यदि माना जाय कि ईश्वर नित्य इच्छाका उपकार करता है, तो वह उपकारको इच्छासे अभिन्न करता है या भिन्न। यदि अभिन्न उपकार करता है, तो इच्छा नित्य नहीं रहेगी। और भिन्न उपकार करनेमें 'यह उपकार इच्छाका है' ऐसा कथन नहीं हो सकता है। तात्पर्य यह है कि ईश्वरके द्वारा इच्छा-का उपकार नहीं होता है, और उपकारके अभावमें ईश्वरके साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता है। अतः यह ईश्वरकी इच्छा या सिसृक्षा है, ऐसा कथन भी संभव नहीं है। ईश्वरकी इच्छाको अनित्य माननेमें भी वही पूर्वोक्त दूषण आते हैं। अनित्य इच्छाका भी ईश्वरके द्वारा उपकार न होनेसे ईश्वरके साथ उसका सम्बन्ध नहीं होगा। और सम्बन्धके अभावमें यह ईश्वरकी इच्छा है, ऐसा व्यपदेश नहीं होगा।

सम्पूर्ण कार्योंकी उत्पत्ति, विनाश और स्थितिमें यदि ईश्वरकी इच्छा एक ही रहती है, तो एक साथ ही सब पदार्थोंकी उत्पत्ति, विनाश और स्थिति होना चाहिए। एक समयमें एक पदार्थकी उत्पत्ति और दूसरेका विनाश नहीं होना चाहिए।

उक्त दोषका निवारण करनेके लिए ईश्वरकी इच्छाको अनेक मानने-से भी कोई लाभ नहीं है। क्योंकि अनेक इच्छाओंके विषयमें दो विकल्प होते हैं—अनेक इच्छाएँ क्रम रहित हैं, या क्रम सहित। यदि क्रम रहित हैं, तो सब पदार्थोंकी उत्पत्ति आदि एक साथ ही होना चाहिए। और यदि अनेक इच्छाएँ क्रमसे होती हैं, तो एक समयमें एक ही इच्छाका सद्भाव होनेसे एक ही कार्यकी उत्पत्ति या विनाश या स्थिति होना चाहिए। और ऐसा होनेपर एक समयमें अनेक कार्योंकी जो उत्पत्ति आदि देखी जाती है, वह कैसे होगी। ईश्वरकी अनित्य इच्छाकी उत्पत्तिके विषयमें भी दो विकल्प होते हैं—इच्छाकी उत्पत्ति विना इच्छाके ही होती है या इच्छा पूर्वक होती है। यदि विना इच्छाके इच्छाकी उत्पत्ति होती

नैयायिकका उक्त कथन समीचीन नहीं है। क्योंकि जिन हेतुओंसे ईश्वरकी सिद्धि की गयी है, उनका ईश्वरके साथ व्यतिरेक नहीं है। ईश्वरके विना भी सन्निवेश विशेष, कार्यत्व आदि हेतुओंके संभव होनेसे व्यतिरेकका अभाव सुनिश्चित है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि शरीर और इन्द्रिय रहित आत्मासे शरीर आदिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यदि ऐसा है तो शरीर और इन्द्रिय रहित ईश्वरसे शरीर और इन्द्रियकी उत्पत्ति कैसे होगी। यदि शरीर और इन्द्रिय रहित ईश्वर प्राणियोंके शरीर और इन्द्रियकी उत्पत्तिका कारण होता है, तो अचेतन कर्मको भी शरीर आदिकी उत्पत्तिका कारण माननेमें कौनसी वाधा है। दृष्टान्तका व्यतिक्रम तो दोनोंमें समानरूपसे है। नैयायिकने ईश्वरको शरीर आदिका कर्ता सिद्ध करनेके लिए कुंभकारका दृष्टान्त दिया है। किन्तु यह दृष्टान्त विषम है। कुंभकार शरीर और इन्द्रिय सहित है, परन्तु ईश्वर शरीर और इन्द्रिय रहित है। दृष्टान्तके वलसे तो ईश्वर भी शरीर और इन्द्रिय सहित ही सिद्ध होगा। फिर भी ईश्वरको शरीर और इन्द्रिय रहित माना जाय, तो जिस प्रकार शरीर और इन्द्रिय रहित ईश्वर शरीर और इन्द्रियका कर्ता होता है, उसीप्रकार अचेतन कर्म भी शरीर आदिका कर्ता हो सकता है। इसलिए ईश्वरको शरीर आदिका कर्ता मानना आवश्यक नहीं है।

इस विषयमें नैयायिकका कहना है कि कर्तृत्वके प्रति सशरीरत्व या अशरीरत्व प्रयोजक नहीं है, किन्तु बुद्धि, इच्छा और प्रयत्नके द्वारा कार्यकी उत्पत्ति होती है। शरीर सहित कुंभकार भी बुद्धि आदि तीनके द्वारा ही घटका कर्ता होता है। प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिके लिए पहले उसके कारण, उत्पन्न करनेकी विधि आदिके ज्ञानकी आवश्यकता है, पुनः कार्यको उत्पन्न करनेकी इच्छा होना चाहिए, और इच्छा होने पर तदनुकूल प्रयत्न करना चाहिए, तव कार्यकी उत्पत्ति होती है। अतः शरीर रहित होने पर भी बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न सहित ईश्वर शरीर आदिका कर्ता होता है।

उक्त कथन भी तथ्यसे रहित है। क्योंकि शरीर रहित ईश्वरमें बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न संभव नहीं हैं। जिस प्रकार अन्य मुक्तात्माओंमें बुद्धि आदि नहीं होते हैं, तथा संसारी आत्माओंमें शरीरसे वाहर बुद्धि आदि नहीं होते हैं, उसी प्रकार ईश्वरमें भी बुद्धि आदि नहीं हो सकते हैं। न्यायमतके अनुसार शरीर रहित होने पर मुक्तात्मामें बुद्धि आदिका अभाव हो जाता है। प्रत्येक आत्मा व्यापक है, किन्तु संसारी आत्माओंमें

अचेतन कारणोंमें स्थित्वाप्रवर्तन अर्थक्रियाकारित्व आदि चेतनसे अधिष्ठित होकर ही होते हैं, ऐसा नियम माननेमें ईश्वरमें भी स्थित्वा-प्रवर्तन, अर्थक्रियाकारित्व आदि नहीं हो सकते हैं। क्योंकि ईश्वर भी अचेतन है। न्यायमतके अनुसार सब आत्माएं स्वतः अचेतन हैं। उनमें जो चेतन व्यवहार होता है वह चेतनाके समवायसे होता है। अतः ईश्वर स्वतः अचेतन है। और अचेतन ईश्वरमें भी क्रमसे उत्पन्न होने वाले सब कार्यों की अपेक्षासे स्थित्वाप्रवर्तन, अर्थक्रियाकारित्व आदि होते हैं। किन्तु उक्त नियमानुसार अचेतन ईश्वरमें स्थित्वाप्रवर्तन आदि नहीं होना चाहिए। यदि अचेतन ईश्वरमें स्थित्वाप्रवर्तन आदि होता है, तो ईश्वर भी चेतन-से अधिष्ठित होकर स्थित्वाप्रवर्तन आदि करता है, ऐसा मानना पड़ेगा। यदि अचेतन ईश्वर अन्य चेतनसे अधिष्ठित हुए बिना ही कार्य करता है तो इस नियममें व्यभिचार आता है कि अचेतन चेतनसे अधिष्ठित होकर ही कार्य करता है। इसलिए यह मानना चाहिए कि एक ईश्वर दूसरे ईश्वरसे अधिष्ठित होकर कार्य करता है। और ऐसा माननेमें अनवस्था दोषका निवारण होना असंभव है। अतः अचेतनको चेतनाधिष्ठित होकर कार्य करनेका नियम मानना युक्तिसंगत नहीं है। इसीलिए ईश्वर भी शरीर आदिकी उत्पत्तिमें अचेतन परमाणु आदिका अधिष्ठाता नहीं होता है।

उक्त दोषोंके भयसे यदि ऐसा कहा जाय कि बुद्धिमान् होनेसे ईश्वर अन्य चेतनसे अनधिष्ठित होकर ही कार्य करनेमें समर्थ है, और उसको अन्य चेतनसे अधिष्ठित होनेकी आवश्यकता नहीं है। तो ऐसा कहना भी असंगत है। क्योंकि यदि ईश्वर बुद्धिमान् है, तो वह अन्धे, लूले, लंगड़े, कुबड़े आदि निकृष्ट शरीर वाले प्राणियोंको क्यों उत्पन्न करता है। ऐसा देखा जाता है कि जो अधिक ज्ञानवान् होता है, वह अपने कार्यको अधिक से अधिक सुन्दर और अच्छा बनानेका प्रयत्न करता है। एक उच्च कोटिका कलाकार यह कभी नहीं चाहेगा कि उसके चित्रमें किसी प्रकारकी कोई त्रुटि रह जाय। ईश्वर केवल बुद्धिमान् ही नहीं है, किन्तु सातिशय बुद्धिमान् है। इसलिए सातिशय बुद्धिमान् ईश्वरका कर्तव्य है कि वह अन्धे, लूले आदि प्राणियोंको उत्पन्न न करे। और यदि वह इस प्रकारके प्राणियोंको उत्पन्न करता है, तो इसका अर्थ यही होगा कि उसका ज्ञान पूर्ण नहीं है, किन्तु अपूर्ण है।

यहाँ ईश्वरवादियोंकी ओरसे यह कहा जा सकता है कि ईश्

तस्मात् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवा... सम्प्रवर्तते ॥
भ्रान्तेर्निश्चीयते नेति साधनं —प्रमाणवा० ३।४१

पदार्थोंका प्रत्यक्ष होने पर उनके क्षणिकत्व आदि समस्त धर्मोंका भी प्रत्यक्ष हो जाता है। किन्तु सदृश अपर-अपर क्षणोंकी उत्पत्ति होनेसे भ्रान्तिके कारण लोग पदार्थोंको अक्षणिक समझ लेते हैं। यही कारण है कि वस्तुमें क्षणिकत्वका ज्ञान करानेके लिए 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' 'सब क्षणिक है, सत् होनेसे' इस प्रकारके अनुमानकी प्रवृत्ति होती है। बौद्धोंका उक्त कथन समीचीन नहीं है। क्योंकि उनके यहाँ तत्त्व प्रतिपत्तिका कोई भी उपाय नहीं है। निर्विकल्पक होनेसे प्रत्यक्षके द्वारा अर्थकी प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है। और अनुमान संवृतिसत् सामान्यको विषय करनेके कारण तत्त्वकी प्रतिपत्ति करनेमें असमर्थ है।

बौद्ध कहते हैं कि यद्यपि अनुमान संवृतिसत् सामान्यको विषय करता है, फिर भी स्वलक्षणकी प्राप्तिमें कारण होनेसे उसको प्रमाण माना गया है। उसके द्वारा तत्त्वकी प्रतिपत्ति होनेमें कोई बाधा नहीं है। इसी बातको एक उदाहरण द्वारा समझाया गया है। किसी पुरुषको मणिप्रभामें मणिका ज्ञान हुआ और किसी पुरुषको प्रदीपप्रभामें मणिका ज्ञान हुआ, उन दोनोंका ज्ञान समानरूपसे मिथ्या है। फिर भी जिसको णिप्रभामें मणिका ज्ञान हुआ है, उसको मणिकी प्राप्ति हो जाती है,

अन्यथा मणिप्रभादर्शनको तथा अनुमानको भी विसंवादी होनेसे प्रमाण मत मानिए।

यहाँ बौद्ध कहते हैं कि मिथ्याज्ञानमें संवाद कभी-कभी ही पाया जाता है, किन्तु अनुमानमें संवाद सदा पाया जाता है। यद्यपि अनुमान अवस्तुभूत सामान्यको विषय करता है, फिर भी परम्परासे वस्तु (स्वलक्षण) की प्राप्तिका कारण होनेसे वह संवादक है। कहा भी है—

लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं पारम्पर्येण वस्तुनि।
प्रतिबन्धात्तदाभासशून्ययोरप्यवञ्चनम् ॥

—प्रमाणवा० २।८२

लिङ्गबुद्धि (हेतुका ज्ञान) और लिङ्गिबुद्धि (साध्यका ज्ञान) में वस्तुका साक्षात् प्रतिभास न होनेपर भी परम्परासे वस्तुके साथ सम्बन्ध होनेके कारण अनुमानमें संवादकता है।

बौद्धोंका उक्त कथन असंगत ही है। यदि अनुमानमें सर्वदा संवादकता विद्यमान रहती है, तो प्रत्यक्षकी तरह उसे भी अभ्रान्त मानना चाहिए। किन्तु बौद्धोंने प्रत्यक्षको अभ्रान्त माना है, और अनुमानको भ्रान्त माना है। धर्मोत्तरने कहा है कि अनुमान भ्रान्त है[1], क्योंकि वह अपने विषय सामान्यमें, जो कि अनर्थ है, अर्थका अध्यवसाय करके प्रवृत्त होता है। इस प्रकार यदि अनुमान भ्रान्त है तो वह संवादक कैसे हो सकता है। और संवादकताके अभावमें वह प्रमाण भी नहीं हो सकता है। यथार्थमें अनुमान प्रमाण है, अप्रमाण नहीं। और उसका विषय सामान्य भी मिथ्या नहीं है। यदि अनुमानका आलम्बन (सामान्य) मिथ्या है, तो प्राप्य (स्वलक्षण) भी मिथ्या होगा। और यदि अनुमान द्वारा प्राप्य विषय वास्तविक है, तो उसके आलम्बनको भी वास्तविक मानना चाहिए।

इसलिए 'तत्त्वज्ञानं प्रमाणम्' यह प्रमाणका लक्षण पूर्णरूपसे निर्दोष है। इस लक्षणमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोषोंमेंसे कोई भी दोष संभव नहीं है। जितने प्रमाण हैं वे सब तत्त्वज्ञानरूप ही हैं। प्रमाणोंमें जो प्रतिभास भेद पाया जाता है, वह कारणसामग्रीके भेदसे होता है। इन्द्रियजन्य होनेसे प्रत्यक्ष विशद होता है, और लिङ्ग आदि

1. भ्रान्तं ह्यनुमानं स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायेन प्रवृत्तत्वात्।
—न्यायबि० टीका, पृ० १।

अथवा 'स्याद्वादनय' शब्दका सम्बन्ध 'तत्त्वज्ञान' शब्दके साथ किया जा सकता है। अर्थात् 'तत्त्वज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्' ऐसा सम्बन्ध करके तत्त्वज्ञानमें सप्तभंगीकी प्रक्रियाको लगाया जा सकता है। तत्त्वज्ञानमें कई धर्मोंकी अपेक्षासे सप्तभंगीका कथन करनेमें कोई विरोध नहीं है। तत्त्वज्ञान सम्पूर्ण पदार्थोंको विषय करनेके कारण कथंचित् अक्रमभावी है, और कुछ पदार्थोंको विषय करनेके कारण कथंचित् क्रमभावी है। इसी प्रकार कथंचित् उभय, अवक्तव्य आदि भी है। अथवा तत्त्वज्ञान अपने अर्थकी प्रमितिको उत्पन्न करनेके कारण कथंचित् प्रमाण है, और प्रमाणान्तरसे अथवा स्वतः प्रमेय होनेके कारण कथंचित् अप्रमाण (प्रमेय) है। उसी प्रकार कथंचित् उभय, अवक्तव्य आदि भी है। अथवा तत्त्वज्ञान कथंचित् सत् है, कथंचित् असत् है, कथंचित् उभय आदि भी है। इस तरह तत्त्वज्ञानके विषयमें प्रमाण और नयकी अपेक्षा से अनेक सप्तभंगियाँ बन सकती हैं। इस प्रकार उक्त कारिकाके द्वारा प्रमाणके विषयमें स्वरूपविप्रतिपत्ति, संख्याविप्रतिपत्ति और विषयविप्रतिपत्ति इन तीन विप्रतिपत्तियोंका निराकरण किया गया है।

अब प्रमाणके फलमें विप्रतिपत्तिका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

उपेक्षाफलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः।
पूर्वावाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥१०२॥

प्रथम जो केवल ज्ञान है, उसका फल उपेक्षा है। अन्य ज्ञानोंका फल आदान और हान (ग्रहण और त्याग) बुद्धि है। अथवा उपेक्षा भी उनका फल है। वास्तवमें अपने विषयमें अज्ञानका नाश होना सब ज्ञानों का फल है।

यथार्थमें प्रमाणका फल दो प्रकारका है—एक साक्षात्फल और दूसरा परम्पराफल। अपने विषयमें अज्ञानका नाश होना सब ज्ञानोंका साक्षात् फल है। किसी वस्तुको ग्रहण करना या छोड़ देना अथवा उसकी उपेक्षा कर देना ये तीन ज्ञानके परम्पराफल हैं। केवलज्ञानका परम्पराफल उपेक्षा है। क्योंकि कृतकृत्य होनेसे केवलीको किसी वस्तुसे कोई प्रयोजन नहीं रहता। यही कारण है कि सब विषयोंमें उनकी उपेक्षा रहती है।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि केवली परम कारुणिक होते हैं। दूसरे प्राणियोंके दुःखको दूर करनेकी उनकी इच्छा रहती है। तब उनमें

वह फल प्रमाणसे कथंचित् भिन्न है, और कथंचित् अभिन्न। करण (प्रमाण) और क्रिया (फलज्ञान) कथंचित् एक हैं, और कथंचित् नाना हैं।

स्याद्वाद शब्दके अन्तर्गत स्यात् विशेषणका अर्थ बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥१०३॥

हे भगवन्! आपके मतमें 'स्यात्' शब्द अर्थके साथ सम्बद्ध होनेके कारण 'स्यादस्ति घटः' इत्यादि वाक्योंमें अनेकान्तका द्योतक होता है। और गम्य अर्थका विशेषण होता है। 'स्यात्' शब्द निपात है, तथा केवलियों और श्रुतकेवलियोंको भी अभिमत है।

यहाँ व्याकरणशास्त्रकी दृष्टिसे 'स्यात्' शब्दका विचार करना आवश्यक है। 'अस्' धातुसे विधिलिङ्में 'स्यात्' शब्द बनता है। 'स्याद्वाद'में 'स्यात्' विधिलिङ्में निष्पन्न शब्द नहीं है, किन्तु तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। संज्ञा, सर्वनाम, अव्यय आदिके भेदसे शब्द कई प्रकारके होते हैं। जो सदा एकसे रहते हैं और जिनके 'भवति' 'बालकः' इत्यादिकी तरह रूप नहीं चलते हैं, वे 'यथा' 'अपि' 'स[illegible]' इत्यादि शब्द अव्यय कहलाते हैं। और निपात शब्द अव्ययके विशेषरूप अथवा अव्ययके अन्तर्गत ही होते हैं। 'हि' 'च' 'एव' '[illegible]' इत्यादि शब्द निपात कहलाते हैं। निपात शब्द अर्थके द्योतक हैं। कहा भी है—'द्योतकाश्च भवन्ति निपाताः'। किन्हीं वैयाकरणोंके मतसे निपात वाचक भी होते हैं। 'स्यात्' तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। 'स्यात्'के विधिलिङ्में विधि, विचार, प्रश्न आदि अनेक अर्थ होते हैं। उनमेंसे यहाँ अनेकान्त अर्थ विवक्षित है। स्यात् शब्द कथंचित् (किसी सुनिश्चित) अपेक्षाके अर्थमें प्रयुक्त होता है, संशय, संभावना या कदाचित्के अर्थमें नहीं। 'स्यादस्त्येव घटः', 'स्यान्नास्त्येव घटः' इत्यादि वाक्योंमें स्यात् शब्द अनेकान्तका द्योतन करता है।

वस्तु अनेकान्तात्मक है। सत्, असत्, नित्य, अनित्य आदि सर्वथैकान्तके निराकरण पूर्वक उक्त विरोधी धर्मोंका एक वस्तुमें पाया जाना अनेकान्त है। 'स्यात्' शब्द इसी अनेकान्तका द्योतन करता है। 'स्यादस्ति घटः', यहाँ 'स्यात्' शब्द कहता है कि घट 'अस्तिरूप ही नहीं है,

पूरा ज्ञान हो जाता है, वहाँ एक पद ही वाक्य हो जाता है। क्योंकि वाक्यका लक्षण निराकांक्षत्व वहाँ पाया जाता है। वहाँ एक ही पदसे पूरा ज्ञान हो जाता है, और अन्य पदोंकी कोई अपेक्षा नहीं रहती है।

स्याद्वादका समर्थन करनेके लिए आचार्य पुनः कहते हैं—

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥१०४॥

सर्वथा एकान्तका त्याग करके कथंचित् विधान करनेका नाम स्याद्वाद है। वह सात भंगों और नयोंकी अपेक्षा रखता है, तथा हेय और उपादेयके भेदको भी बतलाता है।

किंवृत्तचिद्विधिका अर्थ है 'किम्'से चित् प्रत्ययका विधान करनेपर बनने वाला शब्द, अर्थात् कथंचित्। कथंचित् और स्यात् ये दोनों पर्याय-वाची शब्द हैं। स्याद्वाद एकान्तका त्याग करके अनेकान्तका प्रतिपादन करता है। यहाँ अनेकान्त और स्याद्वादमें भेद समझ लेना भी आव-श्यक है। यथार्थमें अर्थका नाम अनेकान्त है। एकसे अधिकका नाम अनेक है। और धर्मका नाम अन्त है। जिस पदार्थमें सत्त्व, असत्त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनेक विरोधी धर्म पाये जाते हैं, उसका नाम अने-कान्त है। अनेकान्त और स्याद्वाद ये दोनों पर्यायवाची नहीं हैं, किन्तु अनेकान्तवाद और स्याद्वाद पर्यायवाची हो सकते हैं। अनेक धर्मोंके प्रतिपादन करनेकी शैलीका नाम स्याद्वाद है। इस प्रकार ऐसा कहनेमें कोई दोष नहीं है कि अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक है। उन अनेक धर्मोंमेंसे स्याद्वाद एक समयमें एक धर्मका किसी निश्चित अपेक्षासे कथन करता है। 'स्याद्वाद'में दो शब्द हैं—स्यात् और वाद। स्यात्का अर्थ है कथंचित्—किसी अपेक्षासे। और वादका अर्थ है कथन। घटमें स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे अस्तित्व धर्म है, और पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे नास्तित्व धर्म है, इत्यादि प्रकार-से कथन करना स्याद्वाद है। स्याद्वादमें सात भंगोंकी अपेक्षा होती है। [illegible] सात भंगोंका वर्णन पहले किया जा [illegible] है। [illegible] नयोंकी भी अपेक्षा होती है। और कथं-[illegible] [illegible] कथंचित् नित्य है, और [illegible] किया गया है। अर्थात् [illegible] और [illegible] नयकी अपेक्षा- [illegible]

सम्पूर्ण तत्त्वोंके प्रकाशक स्याद्वाद और केवलज्ञानमें प्रत्यक्ष परोक्षका भेद है। जो वस्तु दोनों ज्ञानोंमें से किसी भी ज्ञानका विषय नहीं होती है वह अवस्तु है।

स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों ही सम्पूर्ण अर्थोंको जानते हैं। उनमें अन्तर केवल यही है कि स्याद्वाद परोक्षरूपसे अर्थोंको जानता है, और केवलज्ञान प्रत्यक्षरूपसे उनको जानता है। उक्त कारिकामें स्याद्वादको श्रुतज्ञानका पर्यायवाची बतलाया गया है। जो सम्पूर्ण श्रुतका ज्ञाता हो जाता है वह श्रुतकेवली कहलाता है। श्रुतकेवली श्रुतज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंको जानता है। श्रुतकेवली और केवलीमें ज्ञानकी अपेक्षासे कोई भेद नहीं है। भेद केवल प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे जाननेका है। कारिकामें पहले स्याद्वाद शब्दका प्रयोग किया है और बादमें केवलज्ञान शब्द है। इससे प्रतीत होता है कि दोनोंमेंसे कोई एक ही पूज्य नहीं है। अर्थात् दोनों समान रूपसे पूज्य हैं। इसका कारण यह है कि दोनों परस्परहेतुक हैं। क्योंकि केवलज्ञानसे स्याद्वादकी उत्पत्ति होती है और स्याद्वादरूप आगमसे केवल ज्ञानकी उत्पत्ति होती है।

यहाँ कोई शंका कर सकता है कि स्याद्वाद सर्व तत्त्वोंका प्र शक कैसे हो सकता है। क्योंकि श्रुतज्ञान द्रव्योंकी सब पर्यायों नहीं जानता है। कहा भी है—'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्या मति और श्रुतज्ञान द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंको ही जानते हैं, सबको उक्त शंकाका उत्तर यह है कि यहाँ जो स्याद्वादको स प्रकाशक बतलाया गया है, वह द्रव्यकी अपेक्षासे बतलाया पर्यायकी अपेक्षासे नहीं। जीवादि सात पदार्थोंका नाम 'जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्' ऐसा सूत्रकारक है। इन सात तत्त्वोंका प्रकाशन केवलज्ञानकी तरह स्याद्वाद भी करता है। जिस प्रकार केवली दूसरोंके लिए जीवादि तत्त्वोंका प्रतिपादन करता है, उसी प्रकार आगम भी करता है। उनमें इतनी विशेषता अवश्य है कि केवली अर्थोंको प्रत्यक्ष जानता है, और स्याद्वाद परोक्षरूपसे जानता है। तथा केवली सब तत्त्वोंकी सब पर्यायोंको जानता है, और स्याद्वाद सब तत्त्वोंकी कुछ पर्यायोंको जानता है। क्योंकि केवलज्ञान ही सब पर्यायोंको जाननेमें समर्थ है, वचन या अगम नहीं। केवली भी वचनोंके द्वारा सब पर्यायोंका प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि सब पर्यायें वचनके अगोचर हैं। इस प्रकार स्याद्वाद और केवल-

तीन रूपोंमें अवाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व इन दो रूपोंको मिला देनेसे हेतुके पाँच रूप हो जाते हैं। नैयायिक पाञ्चरूप्यको हेतु-का लक्षण मानते हैं। कई हेतुओंमें त्रैरूप्य अथवा पाञ्चरूप्य पाया जाता है। 'पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्वात्', 'इस पर्वतमें अग्नि है, धूम होनेसे।' यहाँ धूम हेतुमें त्रैरूप्यका सद्भाव है। पर्वतमें रहनेके कारण धूम पक्ष (पर्वत) का धर्म है। सपक्ष (भोजनशाला) में भी उसका सत्त्व है। और विपक्ष (सरोवर) से उसकी व्यावृत्ति (अभाव) है। किन्तु त्रैरूप्य हेतुका वास्तविक लक्षण नहीं हो सकता है। क्योंकि त्रैरूप्यको हेतुका लक्षण माननेमें अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष आते हैं। 'उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्' एक मुहूर्तके वाद शकट (रोहिणी) नक्षत्रका उदय होगा, क्योंकि इस समय कृत्तिका नक्षत्रका उदय है। यहाँ शकट पक्ष है, उसका उदय साध्य है और कृत्तिकोदय हेतु है। कृत्तिको-दय हेतु शकट (पक्ष) में नहीं रहता है। फिर भी (पक्षधर्मत्वके अभावमें भी) अपने साध्यकी सिद्धि करता है। यहाँ सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्तिका कोई प्रश्न ही नहीं है। क्योंकि उक्त अनुमानमें न तो कोई सपक्ष है और न विपक्ष है। इससे सिद्ध होता है कि त्रैरूप्यके अभावमें भी हेतु साध्यका गमक होता है। अतः सव हेतुओंमें त्रैरूप्यके न होनेसे हेतुके लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है। इसी प्रकार अतिव्याप्ति दोष भी होता है।

'गर्भस्थः मैत्रतनयः श्यामः तत्पुत्रत्वात् इतरपुत्रवत्' 'गर्भमें स्थित मैत्रका पुत्र श्याम है, मैत्रका पुत्र होनेसे, जैसे कि उसके दूसरे पुत्र।' यहाँ तत्पुत्रत्व हेतुमें त्रैरूप्य रहने पर भी वह सम्यक् हेतु नहीं है, किन्तु हेत्वाभास है। क्योंकि तत्पुत्रत्व हेतुका श्यामत्व साध्यके साथ अविना-भाव सिद्ध नहीं होता है। श्यामत्व और मैत्रपुत्रत्वमें कार्य-कारण आदि कोई सम्बन्ध नहीं है। यतः हेत्वाभासमें भी त्रैरूप्य रहता है, अतः इसमें अतिव्याप्ति दोष है। इस प्रकार त्रैरूप्य हेतुका लक्षण सिद्ध नहीं होता है। और जव त्रैरूप्य हेतुका लक्षण नहीं है, तव पाञ्चरूप्य भी हेतुका लक्षण कैसे हो सकता है।

अतः अविनाभाव या अन्यथानुपपत्ति ही हेतुका वास्तविक लक्षण है। अविनाभावका अर्थ है—साध्यके विना हेतुका न होना। अन्यथानु-पपत्तिका भी यही अर्थ है। साध्यके विना हेतुका न होना ही अन्यथा-नुपपत्ति है। त्रैरूप्य या पाञ्चरूप्यके होने पर भी अन्यथानुपपत्तिके

नय द्रव्यार्थिकके भेद हैं, और ऋजुसूत्र आदि चार नय पर्यायार्थिकके भेद हैं। नैगम आदि चारको अर्थनय भी कहते हैं, क्योंकि इनमें अर्थकी प्रधानता रहती है। और शब्द आदि तीनको शब्दनय कहते हैं। क्योंकि इनमें शब्दकी प्रधानता रहती है।

नैगम नय द्रव्य और पर्यायमें भेद नहीं करता है। इस दृष्टिसे वह कालमें भी भेद नहीं करता है। अतः यह नय जो पर्याय निष्पन्न नहीं हुई है उसका संकल्प करके उसका कथन करता है। जैसे कोई व्यक्ति पकानेके लिए चावल धो रहा है। किसीने उससे पूँछा कि क्या कर रहे हो। तब वह कहता है कि ओदन (भात) पका रहा हूँ। यहाँ अभी ओदन पर्याय निष्पन्न नहीं हुई है। फिर भी उसका कथन किया गया है। ओदन पर्यायका काल दूसरा है, और चावलका काल दूसरा है। चावल द्रव्य है, ओदन उसकी पर्याय है। यहाँ द्रव्य और पर्यायमें तथा चावलके काल और ओदनके कालमें अभेद मान लिया गया है। फिर भी नैगम नयकी दृष्टिसे उक्त कथन ठीक है।

संग्रह नय सजातीय समस्त पदार्थोंका संग्रह करके उनका ग्रहण करता है। द्रव्यके कहनेसे समस्त द्रव्योंका ग्रहण हो जाता है, घटके कहनेसे समस्त घटोंका ग्रहण हो जाता है। व्यवहार नय संग्रह नयसे गृहीत अर्थोंका यथाविधि भेद पूर्वक व्यवहार करता है। जैसे द्रव्यके दो भेद हैं- जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। जीव द्रव्यके भी दो भेद हैं—मुक्त जीव और संसारी जीव। अजीव द्रव्यके पाँच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। स्वर्णघट, रजतघट, मृत्तिकाघट आदिके भेदसे घटके अनेक भेद हैं। इस प्रकारसे भेद पूर्वक व्यवहार करना व्यवहार नय है।

भूत और भविष्यत् कालकी अपेक्षा न करके केवल वर्तमान समयवर्ती एक पर्यायको ग्रहण करने वाले नयको ऋजुसूत्र नय कहते हैं। पर्याय एक क्षणवर्ती होती है। ऋजुसूत्र नय वर्तमान पर्यायको ही ग्रहण करता है, अतीत और अनागत पर्यायको ग्रहण नहीं करता। यथार्थमें अतीतको विनष्ट हो जानेसे तथा अनागतको अनुत्पन्न होनेसे उनमें पर्याय व्यवहार हो भी नहीं सकता। इसीसे ऋजुसूत्र नयका विषय वर्तमान पर्याय मात्र बतलाया गया है। इस नयमें द्रव्य सर्वथा अविवक्षित रहता है।

शब्द नय शब्दोंमें लिङ्ग, संख्या, कारक, काल आदिके व्यभिचार-

गौः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार गायको भी गो शब्दसे तभी कहेंगे जब वह गमन कर रही हो, सोने या बैठनेके समय उसको गौ नहीं कहेंगे।

इन सात नयोंमेंसे पूर्व-पूर्व नयोंका विषय महान् है, और उत्तरोत्तर नयोंका विषय अल्प है। अर्थात् नैगम नयके विषयसे संग्रह नयका विषय अल्प है, और संग्रह नयके विषयसे व्यवहार नयका विषय अल्प है। इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिए। एवंभूत नयके विषयसे समभिरूढ नयका विषय महान् है। और समभिरूढ नयके विषयसे शब्द-नयका विषय महान् है। इसी प्रकार पूर्व पूर्व नयोंमें भी समझ लेना चाहिए। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अनेकान्तात्मक वस्तुका ज्ञान प्रमाण है, और उसके एक धर्मका ज्ञान नय है।

द्रव्यके स्वरूपको बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः।
अविभ्राड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ॥१०७॥

तीनों कालोंको विषय करने वाले नयों और उपनयोंके विषयभूत अनेक धर्मोंके तादात्म्य सम्बन्धको प्राप्त समुदायका नाम द्रव्य है। द्रव्य एक भी है, और अनेक भी।

नैगम आदि सात नय हैं, और इनके भेद, प्रभेदोंका नाम उपनय है। एक नय एक समयमें एक धर्मको विषय करता है। वस्तुमें अनन्त धर्म होते हैं। अतः अनन्त धर्मोंकी अपेक्षासे नय भी अनन्त हो सकते हैं। नय वर्तमान कालवर्ती धर्मका ही ग्रहण नहीं करते हैं, किन्तु तीनों काल-वर्ती धर्मोंका नयों द्वारा ग्रहण होता है। इसीलिए भूतप्रज्ञापन आदि भी नयके भेद बतलाये गये हैं। अतः नय और उपनयों द्वारा त्रिकाल-वर्ती अनन्त धर्मोंका क्रमशः ग्रहण होता है। उन अनन्त धर्मों (पर्याय-विशेषों)के अविभक्त (तादात्म्यसम्बन्धयुक्त) समुदायका नाम द्रव्य है। 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' 'जिसमें गुण और पर्यायें पायी जाँय वह द्रव्य है' [illegible] यह जो द्रव्यका लक्षण है, उसका इस लक्षणसे कोई विरोध नहीं है। किन्तु दोनों लक्षण एक हैं। गुण, और पर्याय वस्तुके धर्म हैं। प्रत्येक वस्तुमें अनन्त गुण और पर्याय पाये जाते हैं। गुण और पर्यायोंको छोड़कर द्रव्य कुछ भी शेष नहीं रहता है। अतः अनन्त धर्मोंके समुदायका नाम द्रव्य है, अथवा गुण और पर्यायोंके समुदायका नाम द्रव्य

उपेक्षा न करके उनको भी ग्रहण करे, तो प्रमाण और नयमें कोई भेद नहीं रहेगा। प्रमाण विवक्षित और अविवक्षित सब धर्मोंको ग्रहण करता है। अथवा प्रमाणके लिए सब धर्म विवक्षित ही हैं। किन्तु नय विवक्षित एक धर्मको ही ग्रहण करता है, और शेष धर्मोंकी उपेक्षा कर देता है, तथा उनका निराकरण नहीं करता है। परन्तु जो दुर्नय है वह अन्य धर्मोंका निराकरण करके केवल एक धर्मका ही अस्तित्व सिद्ध करता है। निरपेक्ष नयोंके द्वारा कुछ भी अर्थक्रिया संभव नहीं है। उनके द्वारा किसी भी पदार्थका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है। किन्तु स्याद्वाद सम्मत नय ऐसे नहीं हैं। वे परस्पर सापेक्ष होते हैं। यही कारण है कि वे सम्यक् नय हैं। और उनके द्वारा पदार्थोंमें अधिगमरूप अर्थक्रिया भी होती है। अर्थात् उनके द्वारा पदार्थका यथार्थ ज्ञान होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अनन्त सत्य धर्मोंका समुदाय रूप द्रव्य सत्य ही है, मिथ्या नहीं।

अनेकान्तात्मक अर्थका वाक्यके द्वारा नियमन कैसे होता है, बातको बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

नियम्यतेऽर्थो वाक्येन विधिना वारणेन वा ।
तथाऽन्यथा च सोऽवश्यमविशेष्यत्वमन्यथा ॥१

अनेकान्तात्मक अर्थका विधिवाक्य और निषेधवाक्यके द्वा मन होता है। क्योंकि अनेकान्तात्मक होनेसे अर्थ विधिरूप निषेधरूप भी है। किन्तु इससे विपरीत एकान्तरूप अर्थ

यहाँ यह बतलाया गया है कि अनेकान्तात्मक अर्थका नियमन कैसे होता है। प्रधानरूपसे वाक्य दो प्रकारके हैं, वाक्य और निषेधवाक्य। 'घटोऽस्ति' यह विधिवाक्य है, नास्ति' यह निषेधवाक्य है। अर्थ भी विधिरूप और निषेधरूप अर्थात् अनेकान्तात्मक है। और अनेकान्तात्मक अर्थ ही अर्थक्रियाको करनेमें समर्थ है। एकान्तरूप अर्थ, चाहे वह सत् रूप हो, या असत्रूप हो, या और कोई रूप हो, अर्थक्रियाको करनेमें सर्वथा असमर्थ है। न तो तत्त्व सर्वथा सत्रूप है, और न असत्रूप है। इसीलिए न सत्त्वैकान्त ही है, और न असत्त्वैकान्त ही। तात्पर्य यह है कि अनेकात्मात्मक अर्थके विधिरूप और निषेधरूप होनेसे विधिवाक्य और निषेधवाक्यके द्वारा उसका नियमन होता है। जिस समय विधिवाक्य अर्थका प्रतिपादन करता है, उस समय विधि अंश प्रधान रहता है, और निषेधांश

पादन करने वाले मिथ्या वचनोंके द्वारा अर्थका प्रतिपादन कभी नहीं हो सकता है। अतः विधिवाक्य द्वारा ही वस्तुका नियमन नहीं होता है, किन्तु प्रतिषेध वाक्य द्वारा भी उसका नियमन होता है।

वाक्य प्रतिषेध द्वारा ही अर्थका नियमन करता है, इस प्रकारके एकान्तका निराकरण करनेके लिए आचार्य कहते हैं—

वाक्स्वभावोऽन्यवागर्थप्रतिषेधनिरंकुशः।
आह च स्वार्थसामान्यं तादृग्वाच्यं खपुष्पवत् ॥१११॥

वाक्यका यह स्वभाव है कि वह अपने अर्थ सामान्यका प्रतिपादन करता हुआ अन्य वाक्योंके अर्थके प्रतिषेध करनेमें निरंकुश (स्वतंत्र) होता है। और सर्वथा निषेधरूप वचन आकाशपुष्प के समान अवस्तु है।

वचनोंके द्वारा स्वार्थका प्रतिपादन होता है, और परार्थका निषेध भी होता है। घट शब्द जहाँ पट आदि अर्थोंका निराकरण करता है, वहाँ घटरूप अर्थका प्रतिपादन भी करता है। क्योंकि वचनोंका ऐसा स्वभाव है कि वे स्वार्थका प्रतिपादन करते हुए ही परार्थका निषेध करते हैं। ऐसा नहीं है कि वे परार्थका निषेध ही करते रहें और किंचित् भी स्वार्थका प्रतिपादन न करें। अर्थ भी स्वयं विधिरूप ही या निषेधरूप ही नहीं है, किन्तु दोनों रूप है। यह सत्य है कि वचन परार्थ विशेषका निराकरण करते हैं, किन्तु इसके साथ ही स्वार्थ सामान्यका प्रतिपादन भी करते हैं। अर्थ न केवल विशेषरूप है और न सामान्यरूप ही। सामान्यरहित विशेष और विशेषरहित सामान्य तो खपुष्पके समान असत् हैं। अतः प्रतिषेधवाक्य द्वारा ही अर्थका नियमन नहीं होता है, किन्तु विधिवाक्य द्वारा भी उसका नियमन होता है। यहाँ बौद्धोंके अन्यापोहवादका निराकरण किया गया है। बौद्धोंकी मान्यता है कि प्रत्येक वाक्य अन्यापोहरूप प्रतिषेधका ही प्रतिपादन करता है, विधिका नहीं।

अन्यापोहवादियोंका निराकरण करनेके लिए आचार्य पुनः कहते हैं—

सामान्यवाग् विशेषे चेन्न शब्दार्थो मृषा हि सा।
अभिप्रेतविशेषाप्तेः स्यात्कारः सत्यलांछनः ॥११२॥

'अस्ति' आदि सामान्य वाक्य अन्यापोहरूप विशेषका प्रतिपादन करते हैं, ऐसा मानना ठीक नहीं है। क्योंकि अन्यापोह शब्दका अर्थ

में अविनाभाव है। विधिके विना प्रतिषेधका और प्रतिषेधके विना विधि का अस्तित्व नहीं बनता है। प्रतिषेध्यके साथ विधेयका कोई विरोध नहीं है। वस्तु अस्तित्वादि धर्मकी अपेक्षासे विधेय होती है। और नास्तित्वादि धर्मकी अपेक्षासे प्रतिषेध्य होती है। वस्तु न सर्वथा विधेय है और न सर्वथा प्रतिषेध्य। विधेयको प्रतिषेध्यका विरोधी न होनेके कारण ही वस्तुमें हेयत्व और आदेयत्वकी व्यवस्थाकी जाती है। विधेयका एकान्त मानने पर वस्तुमें हेयत्वका विरोध होता है। और प्रतिषेध्यका एकान्त मानने पर आदेयत्वका विरोध होता है। जो सर्वथा विधेय है वह प्रतिषेध्य नहीं हो सकता है, और जो सर्वथा प्रतिषेध्य है वह विधेय नहीं हो सकता है। अतः कथंचित् विधेय और प्रतिषेध्य वस्तुमें ही आदेयत्व और हेयत्व बन सकता है।

विधेय और प्रतिषेध्यमें भी सप्तभंगीके आश्रयसे स्याद्वादकी व्यवस्था की जाती है। अस्तित्वादि धर्म कथंचित् विधेय है और कथंचित् अविधेय है। वह स्वकी अपेक्षासे विधेय है और प्रतिषेध्यकी अपेक्षासे अविधेय है। इसी प्रकार नास्तित्व आदि धर्म कथंचित् प्रतिषेध्य है और कथंचित् अप्रतिषेध्य है। वह विधेयकी अपेक्षासे प्रतिषेध्य है, और प्रतिषेध्यकी अपेक्षासे अप्रतिषेध्य है। इसी प्रकार जीवादि पदार्थ भी कथंचित् विधेय और कथंचित् प्रतिषेध्य होते हैं। अतः सर्वत्र युक्ति और शास्त्रसे विरोध न होनेके कारण स्याद्वादकी निर्विरोध और समीचीन सिद्धि होती है।

आप्तमीमांसाकी रचनाके कारणको बतलानेके लिए आचार्य कहते हैं—

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम् ।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ॥११४॥

अपने हितकी चाह वालोंको सम्यक् और मिथ्या उपदेशमें भेदविज्ञान करानेके लिए यह आप्तमीमांसा बनायी गयी है।

आप्तमीमांसाको बनानेका कारण हितेच्छु पुरुषोंको सम्यक् और मिथ्या उपदेशमें भेदविज्ञान कराना है। मन्द बुद्धि आदिके कारण प्राणी यह नहीं समझ पाते हैं कि किसका उपदेश सम्यक् है, और किसका उपदेश मिथ्या है। आप्तमीमांसामें आप्तके स्वरूपका विचार किया गया है। जिसके वचन सत्य हों अर्थात् युक्ति और शास्त्रसे अविरुद्ध हों वही आप्त है। ऐसी आप्तता अर्हन्तमें ही सिद्ध होती है, अन्यमें नहीं। जब